वर्ष ४५] * * * * [अङ्क ५

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,६५,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर ज्येष्ठ, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, मई १९७१

विषय	पृष्ठ-संख्या
१–श्यामाजूसे विनय [संकलित] (श्रीरूपगोस्वामिविरचित गान्धर्व-प्रार्थनाष्टक, ३) ...	८९३
२–कल्याण	८९४
३–ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश (पुराने सत्सङ्गसे)	८९५
४–श्यामकी छवि [संकलित] (श्रीरसिकदेवजी)	८९७
५–परमार्थकी पगडंडियाँ (नित्यलीलालीन परम श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अमृत-वचन) ...	८९८
६–गीताका भक्तियोग (पूज्य स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज) ...	९०२
७–आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ ...	९०८
८–वर्णाश्रमकी ऐतिहासिकता (डॉ० श्री-नीरजाकान्त चौधरी [देवशर्मा] एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, पी-एच्० डी०)	९११
९–सुखकी गवेषणा (महन्त श्रीतपस्वीन्द्रजी शास्त्री तलेगाँवकर) ...	९१३
१०–उपपुराणोंकी समस्या और श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराण (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)	९१५
११–रामलीला-नाटक (पद्मभूषण डॉ० श्रीरामकुमारजी वर्मा) ...	९१८
१२–श्रीविष्णुप्रिया [एकाङ्की नाटक] (लाल श्रीप्रद्युम्नसिंहजी) ...	९१९
१३–जीवन—एक दृष्टि [कविता] [श्री-भगवानशरणजी भारद्वाज 'प्रदीप' एम्० ए० (संस्कृत-हिंदी)] ...	९२६
१४–परमार्थ-पत्रावली (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पुराने पत्र)	९२७
१५–अकेलापन (श्रीमती सरोज गोयनका)	९२९
१६–अस्पृश्यता पाखण्ड नहीं, दूसरोंके प्रति घृणा नहीं (पं० श्रीनरनारायणजी आसोपा, एम्० ए०, साहित्यालंकार)	९३०
१७–गांधी-जीवन-सूत्र (श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)	९३१
१८–सज्जन और दुर्जनकी खोज [कहानी] (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)	९३६
१९–नाम-मोह—एक महारोग (श्रीअगरचन्दजी नाहटा)	९३८
२०–चँदरी बुआ (श्रीरामेश्वरजी टाँटिया)	९४०
२१–भक्त-गाथा [दक्षिण भारतकी सुप्रसिद्ध महिला-संत कारैक्काल अम्मैयार] (श्री-वल्लभदासजी बिन्नानी 'व्रजेश', साहित्यरत्न, साहित्यालंकार) ...	९४३
२२–मोहनकी उलटी रीति [संकलित] (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र) ...	९४७
२३–पढ़ो, समझो और करो ...	९४८

चित्र-सूची

१–भगवान् शिव	(रेखाचित्र) ...	मुखपृष्ठ
२–श्यामा-श्याम	(तिरंगा) ...	८९३

वार्षिक मूल्य भारतमें १०.००, विदेशमें १६.००(१८ शिलिंग)

जय विराट जय जगतपते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ६० पैसे, विदेशमें रु० १.०० (१५ पैंस)

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार । सम्पादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

श्यामा-श्याम

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

अधश्चोर्ध्वं हरिश्चाग्रे देहेन्द्रियमनोमुखे । इत्येवं संस्मरन् प्राणान् यस्त्यजेत्स हरिर्भवेत् ॥

(अग्निपुराण)

वर्ष ४५ } गोरखपुर, सौर ज्येष्ठ, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, मई १९७१ { संख्या ५
पूर्ण संख्या ५३४

श्यामाजूसे विनय

श्यामे रमारमणसुन्दरतावरिष्ठ-
सौन्दर्यमोहितसमस्तजगज्जनस्य ।
श्यामस्य वामभुजबद्धतनुं कदाहं
त्वामिन्दिराविरलरूपभरां भजामि ॥

(श्रीरूपगोस्वामिविरचित गान्धर्वाप्रार्थनाष्टक, ३)

श्यामाजू ! आपकी सौन्दर्यराशि भगवान् नारायणकी अर्धाङ्गिनी श्रीरमादेवीमें भी नहीं पायी जाती । आपके प्रियतम श्यामसुन्दर भी अपने उस सौन्दर्यके द्वारा, जो भगवान् लक्ष्मीकान्तके अङ्गसौष्ठवसे भी श्रेष्ठ है, जगत्के समस्त जीवोंको मोहित किये लेते हैं। मेरा वैसा सौभाग्य कब होगा, जब मैं आपके श्रीविग्रहको अपने प्रियतमकी वाम भुजासे आवेष्टित देखूँगा !

वैराग्य प्रेमकी भित्ति है, यह सत्य है; पर वास्तविक प्रेममें वैराग्यकी कोई कल्पना ही नहीं है; क्योंकि वहाँ वैराग्यकी कोई वस्तु रहती ही नहीं। प्रेमका अर्थ है—विशुद्ध भगवदनुराग। जहाँ किसी अन्य प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति आदिमें राग है, वहाँ भगवत्प्रेम है ही नहीं। इसलिये विशुद्ध भगवत्प्रेममें वैराग्यकी कल्पना ही नहीं है। वैराग्य वहीं होता है, जहाँ रागका कोई विषय शेष हो—जैसे अमुक विषयमें राग है तो उससे वैराग्य करें, उस विषयसे आसक्तिको हटायें। जब प्रेमास्पदके अतिरिक्त किसी भी प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति-की सत्ताका भाव ही नहीं है, तब उनसे राग हटानेका, वैराग्य करनेका प्रश्न ही नहीं बनता। वस्तुतः प्रेममें प्रेमास्पदकी सत्ता ही रह जाती है और उन्हींमें पूर्णानुराग, पूर्ण ममत्व केन्द्रित हो जाता है। अतएव वास्तविक प्रेममें वैराग्यकी कल्पना नहीं है। पर इसका अर्थ कोई उलटा न समझ ले कि 'जब प्रेममें वैराग्य-की आवश्यकता नहीं है, तो क्या रागकी आवश्यकता है?' यह तो सत्यका उपहास करना है। जहाँ विषयमें राग है, वहाँ भगवत्प्रेम है ही नहीं—यह सिद्धान्त मान लेना चाहिये। जबतक भोग्यपदार्थोंमें, परिस्थितियोंमें, प्राणियोंमें राग है, आसक्ति है, उनसे सुखकी वाञ्छा है, उनकी ओर चित्तका आकर्षण है, तबतक भगवत्प्रेमका प्रादुर्भाव हुआ ही नहीं। भगवत्प्रेम जहाँ वास्तविक रूपमें जग उठता है, वहाँ किसीमें भी आसक्ति-ममता रहती ही नहीं। ऐसी अवस्थामें भगवत्प्रेमीमें विषयानुराग होगा—इसको कल्पना ही कहा जायगा।

जहाँ विषयोंकी सत्ता ही नहीं है, वहाँ न राग है न वैराग्य। वहाँ रह जाते हैं केवल भगवान् और भगवान्की सेवा। भगवत्प्रेमीका भगवत्सेवामें पूर्णानुराग होता है, उससे वह कभी विरत नहीं होना चाहता। अपने भगवान्की सेवामें उसकी पूर्णतम आसक्ति होती है तथा उसकी यह आसक्ति बढ़ती रहे, इसके लिये वह सतत प्रयत्नशील रहता है और भगवान्से इसके लिये प्रार्थना करता है। वह भगवत्सेवाको छोड़कर पाँच प्रकारकी मुक्तियोंको भी स्वीकार नहीं करता। भगवान्ने कहा है—मेरे जन मेरी सेवाको छोड़कर मुक्तिको भी स्वीकार नहीं करते—

> सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
> दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥
> (श्रीमद्भागवत ३।२९।१३)

जहाँ पूर्णानुराग है, वहाँ सेवानुराग भी है। सेवा करनेकी सामर्थ्य, सेवाकी शक्ति, सेवाका अवसर—इनमें दिन-प्रतिदिन वृद्धि होती रहे—प्रेमीकी यही चाह एवं चेष्टा रहती है। सेवक भक्तोंमें श्रीहनुमान्जीका नाम मुख्यरूपसे आता है। वे सेवाके सिवा कुछ भी नहीं जानते। वे सेवामें अपने-आपको भूले रहते हैं। सच्चे प्रेमीका यही स्वरूप है।

ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

[पुराने सत्सङ्गसे]

मुक्तिकी प्राप्तिमें हमारा स्वाभाविक नित्य अधिकार है ।

मुक्तिमें मनुष्यमात्रका नित्य अधिकार है । जो लोग यह कहते हैं कि मुक्ति किसी वर्णविशेष, आश्रमविशेष अथवा कालविशेषमें ही होती है, उनकी बातें कभी सुननी-माननी नहीं चाहिये । मुक्तिके लिये सभी वर्ण, आश्रम एवं काल समान हैं । फिर इस कलिकालमें तो भगवान्‌की उदारताकी सीमा ही नहीं है । इस प्रकारका मौका पाकर भी यदि हमलोग मुक्तिसे वञ्चित रह गये तो समझना चाहिये कि हमारी मूर्खता एवं दुर्भाग्यकी सीमा नहीं है ।

हमलोगोंने अपने आत्माके कल्याणको बहुत ही कठिन समझ लिया है, वास्तवमें यही सबसे बड़ी भूल है । हमलोगोंको यह विश्वास रखना चाहिये कि मनुष्य चाहे जैसा—पापी-से-पापी एवं मूर्ख-से-मूर्ख हो, उसका बहुत ही शीघ्र उद्धार हो सकता है । हमलोगोंको रुपया कमानेमें जितना और जैसा परिश्रम करना पड़ता है, भगवान्‌की प्राप्ति करनेमें उतने और उस प्रकारके परिश्रमकी आवश्यकता नहीं है । आवश्यकता है केवल सहज विश्वासकी कि जब भगवान्‌ने हमें मनुष्य बनाया है, तब मुक्तिकी प्राप्तिका हमारा स्वाभाविक नित्य अधिकार है ।

गीता अध्याय ७के १९वें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है—'बहूनां जन्मनामन्ते' । हमें भगवान्‌की इस वाणीपर विश्वास कर यह मान लेना चाहिये कि हमारा यह अन्तिम जन्म है । इसके बाद और जन्म हमलोगोंको नहीं लेना पड़ेगा । चौरासी लाख योनियोंके बाद जो यह मनुष्य-शरीर हमको मिला है, यही हमारा आखिरी जन्म है । इस मनुष्यजन्मको पाकर भी यदि हमलोगोंका कल्याण नहीं हुआ तो हमारे लिये यह बड़ी ही लज्जा एवं दुःखकी बात होगी । यदि हम मुक्तिकी प्राप्तिके अधिकारी नहीं हुए होते तो सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् भगवान् हमलोगोंको मनुष्यजन्म क्यों देते ? वे हमें गधा-कुत्ता, पशु-पक्षी, कीट-पतंग—कुछ भी बना सकते थे । अतएव यह विश्वास कर लेना चाहिये कि मनुष्य-शरीर सब जन्मोंका अन्तिम जन्म है और यह आगेके सब जन्मोंका अन्त करनेवाला है । जो इस प्रकारका विश्वास कर लेता है कि 'हम मनुष्य हैं, अतएव भगवान्‌की कृपासे हमारा कल्याण सुनिश्चित है', मेरी समझमें उसका कल्याण हो जायगा, इसमें तनिक भी शङ्काके लिये स्थान नहीं है ।

प्रमाद साक्षात् मृत्युका ही स्वरूप है ।

साधकको सबसे पहले प्रमादका त्याग करना चाहिये । प्रमाद साक्षात् मृत्युका ही स्वरूप है । महाभारत, उद्योगपर्वमें संत सुजानने महाराज युधिष्ठिरको बतलाया है कि 'यह प्रमाद ही मृत्यु है ।' गीतामें भगवान्‌ने इसे तमोगुणसे उद्भूत कहा है—

'प्रमादमोहौ तमसो—' (१४ । १७)

प्रश्न होता है कि 'प्रमाद है क्या ?' न करने योग्य कर्मों अर्थात् निषिद्ध कर्मोंको करना तथा करने-योग्य कर्तव्यकर्मोंको न करना 'प्रमाद' है । कर्तव्यकर्म प्रत्येक वर्ण एवं आश्रमके लिये शास्त्रोंमें निश्चित किये गये हैं । व्यक्तिविशेषके लिये प्रतिदिनके जीवनमें भी कुछ विशेष कर्तव्य होते हैं । सत्य-अहिंसा आदिका पालन, दुखियोंकी सेवा, माता-पिता-गुरुजनोंकी सेवा, अपने अधिकारके अनुसार प्रतिदिन भगवान्‌का पूजन-

ध्यान एवं स्वाध्याय आदि मनुष्यमात्रके लिये कर्तव्य हैं। इनका बड़ी तत्परता एवं दृढ़तासे पालन करना चाहिये।

इसके अतिरिक्त जो कर्म शास्त्रोंमें निषिद्ध माने गये हैं, उनको नहीं करना चाहिये। शास्त्र-विपरीत कर्मोंका करना पाप है, अपराध है। साधु-संन्यासियोंके लिये कर्मके आरम्भमात्रका त्याग बतलाया है, पर गृहस्थको कर्तव्यकर्मोंका त्याग कदापि नहीं करना चाहिये। गृहस्थ कर्म करे, उत्साह एवं लगनसे कर्म करे, पर सदा सावधान रहे।

बुरे कर्मोंके साथ-साथ दुर्भावका त्याग भी आवश्यक है। दुर्भावका सम्बन्ध हृदयसे है। किसीके प्रति वैरभाव, घृणाभाव, अहितभाव तथा काम, क्रोध, मद, मोह, अभिमान—ये सभी दुर्भाव हैं। इन सबका त्याग भी साधकके लिये परमावश्यक है। पर दुर्भावका त्याग दुराचरणके त्यागसे कठिन है। मनुष्य यह निश्चय कर ले कि 'मैं यह बुरा कर्म नहीं करूँगा' तो वह बुरा कर्म फिर उससे हो नहीं सकता; पर दुर्भाव हृदयमें प्रविष्ट रहता है। उसकी सफाई करनेमें बड़े मनोबलकी आवश्यकता है।

प्रमादके त्याग एवं कर्तव्यकर्मोंके तत्परतापूर्वक अनुष्ठानसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है और भगवान्की प्राप्ति हो जाती है। भगवान्की घोषणा है—

'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।'
(गीता १८। ४५)

प्रार्थनाका उत्तर भगवान्की ओरसे अवश्य मिलता है।

भगवान्की प्रार्थनाका बड़ा महत्त्व है। अतएव प्रार्थनाके सम्बन्धमें कुछ बातें जान लेनी चाहिये—

(१) यह दृढ़ विश्वास होना चाहिये कि जिससे हम प्रार्थना कर रहे हैं, वह यहाँपर उपस्थित है और हमारी प्रत्येक बातको सुन रहा है। संदेहयुक्त प्रार्थना कभी सफल नहीं होती।

(२) जिससे हम प्रार्थना कर रहे हैं, वह हमारे अन्तरकी बात भी जाननेवाला है, वह अन्तर्यामी है। अतएव जो भी प्रार्थना हो, वह अन्तर्हृदयसे होनी चाहिये। कोई कहे—'हमारे हृदयमें आतुरता नहीं है, हम कैसे अन्तर्हृदयसे प्रार्थना करें', तो इसके लिये भी भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये।

(३) भगवान् प्रार्थनाको पूर्ण करते ही हैं—इस बातपर दृढ़ विश्वास करना चाहिये।

(४) प्रार्थनाके लिये शब्दाडम्बरकी, पद-गायनकी अथवा संस्कृत-श्लोकोंकी आवश्यकता नहीं है। अपनी सीधी-सादी भाषामें अथवा मौन रहकर भी प्रार्थना हो सकती है। प्रार्थना हृदयकी चीज है, दिखावटकी नहीं। प्रार्थना स्वाभाविक होनी चाहिये, जैसे बच्चा भूख लगनेपर स्वाभाविकरूपसे माताके लिये रोता है।

(५) प्रार्थनामें 'दैन्य' होना चाहिये। हृदय खोलकर भगवान्के सामने रख देना चाहिये। अर्थात् अपने हृदयमें जैसा भाव आये, उसे छिपाये नहीं, उसी रूपमें भगवान्के सामने रख दे।

(६) भाव सच्चा होनेसे मेरा विश्वास है कि प्रार्थनाका उत्तर भगवान्की ओरसे अवश्य मिलता है और प्रार्थना करनेवालेको यह अनुभव होने लगता है कि 'भगवान्ने मुझे अपना लिया है'। आजतक सच्चे भावसे प्रार्थना करनेवालोंकी प्रार्थना कभी निष्फल नहीं हुई। भक्त बालक गोविन्दके लिये मूर्ति चेतन होकर खेलनेके लिये बाहर आ गयी, प्रह्लादके लिये खंभेमेंसे भगवान् प्रकट हो गये, तो क्या आजकल भगवान् कहीं चले गये हैं? भगवान् तो यहीं हैं, परंतु अपना विश्वास ही नहीं होता उनपर, जिससे वे प्रकट हों।

भगवान्‌के सामने हृदय खोलकर खूब रोइये, जिससे फिर आगेके लिये रोना न पड़े ।

प्रत्येक भाई-बहिनको इस बातका विचार करना चाहिये कि हमारा कितना समय चला गया है और हमने कितनी उन्नति की है । यदि हमलोग गौर करके देखेंगे तो पता चलेगा कि अधिकांश व्यक्तियोंका जैसा साधन होना चाहिये था, वैसा साधन अभीतक उनसे नहीं बन पा रहा है । अतएव हमें सोचना चाहिये कि हमारी कल ही यदि मृत्यु हो जाय तो कैसी दुर्दशा होगी। क्या हमारे पास इस प्रकारका कोई उपाय है, जिसके द्वारा हम शरीरको कायम रख सकेंगे ? क्या हमारे पास इस प्रकारका साधन है कि जिसके बलपर जब-तक हमारे कल्याणका काम इस शरीरसे नहीं हो जायगा, तबतक हम अपना यह शरीर बनाये रक्खेंगे ? इससे पहले हम नहीं मरेंगे ? यदि नहीं, तो हमलोगोंको अपने आत्माके कल्याणके लिये दिन-रात प्रयत्न करके अपना उद्धार कर लेना चाहिये । अपने आत्म-कल्याणकी चिन्ताके कारण हमारी रातमें नींद और दिनमें भूख-प्यास विदा हो जानी चाहिये ।

देखें, वर्ष-के-वर्ष बीत गये हैं, पर हम वहीं पड़े हैं— जैसे हमने एक स्थानपर ही डेरा डाल दिया हो । अब हमलोगोंको विशेष प्रयत्न करके खूब तेजीके साथ आगे बढ़ना चाहिये । हम समझते हैं कि हम प्रतिदिन भजन-ध्यान-स्मरण करते हैं; पर साधनकी यह मन्दगति बहुत ही हानिकर है । विचार करना चाहिये कि गतवर्ष हमारे साधनकी जो स्थिति थी, वह कितनी बढ़ी है । यदि साधनकी स्थितिमें सुधार नहीं हुआ, अर्थात् साधन बढ़ा नहीं तो खूब पश्चात्ताप होना चाहिये तथा अकेलेमें भगवान्‌के सामने हृदय खोलकर खूब रोना चाहिये, फूट-फूटकर रोना चाहिये । यदि हम इस प्रकार भगवान्‌के सामने हृदय खोलकर खूब रोयेंगे तो फिर हमको आगेके लिये रोना नहीं पड़ेगा; अन्यथा सदाके लिये रोना-ही-रोना है ।

हमारा साधन कहाँतक, किस लक्ष्यतक पहुँच चुका है—इस बातकी जाँच करनेके लिये—इसका माप-तौल करनेके लिये भगवान्‌ने गीताके बारहवें अध्यायमें (श्लोक-संख्या १३से २०वें तक) एक काँटा-कसौटी बतायी है । हमें चाहिये कि हम निरन्तर अपने मनको, जीवनको उस काँटेपर तौलकर देखते रहें कि हम कहाँ हैं, अभी कितना और चढ़ना शेष है ।

श्यामकी छवि

सोहत नैन-कमल रतनारे ।
रूप भरे मदमत्त खंजन-से, मनो बान अनियारे ॥
माथे मुकुट, लटक ग्रीवा की, चित ते टरत न टारे ।
अलिगन जनु झुकि रहे बदन पर, केस ते घूँघुरवारे ॥
छूटे बंद, झीन तन बागो, मुकर रूप तन कारे ।
ढरकि रही माला मोतिन की, छकित छैल मतवारे ॥
अंग-अंग की सोभा निरखत, हरषत प्रान हमारे ।
'रसिक' बिहारी की छबि निरखत, कोटिक कविजन हारे ॥

—श्रीरसिकदेवजी

परमार्थकी पगडंडियाँ

(नित्यलीलालीन परम श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अमृत-वचन)

भगवान् हमारे अत्यन्त निकट हैं, सदा अति निकट ही रहते हैं, दिन-रात रहते हैं; उनका बिछोह-वियोग कभी होता ही नहीं, हमारा शरीर नहीं रहता, तब भी वे तो रहते ही हैं। नरकमें भी हमारे साथ रहते हैं, वैकुण्ठमें भी रहते हैं। वे कभी साथ छोड़ देंगे, ऐसी तो कल्पना ही नहीं करनी चाहिये। बस, उन्हें सदा—चलते-फिरते, खाते-पीते, सोते-जागते अपने पास समझना चाहिये—समझना ही नहीं चाहिये, अनुभव करना चाहिये। जब वे साथ हैं, नित्य अपने पास हैं, तब यह विश्वास हो जानेपर उनके होनेका अनुभव भी होने लगता है। सदा-सर्वदा उनकी संनिधिका अनुभव किया करो। वे एक क्षणके लिये भी तुमसे अलग नहीं होते, यह निश्चय समझो। फिर वे साथ रहें या साथ रक्खें—इसका कोई प्रश्न ही नहीं है। वे सदा ही, सर्वत्र ही साथ हैं—

'तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।'

'मैं उससे कभी अलग नहीं होता और वह मुझसे कभी नहीं अलग होता।' यह भगवान्‌ने कहा है। इस बातका विश्वास करो, अनुभव करो।

× × × × ×

भगवान् छोड़ना जानते ही नहीं। एक बार जो उनका हो जाता है, वे सदाके लिये उसके हो जाते हैं। उनका और हमारा सम्बन्ध कभी टूटनेवाला है ही नहीं—इस बातपर हमें विश्वास करना चाहिये और दिन-रात उनकी अनन्त असीम कृपाके अगाध सागरमें अपनेको निमग्न देखना चाहिये। ऊपर-नीचे, दिनमें-रातमें, जीवनमें-मृत्युमें, सुखमें-दुःखमें, मधुरमें-भयानकमें—सदा-सर्वत्र उनकी अशेष-कृपामयी कृपा ही फैल रही है। 'जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती।'

× × × × ×

मनमें निश्चय कर लेना चाहिये—'भगवान् मेरे हैं और मैं भगवान्‌का हूँ'। जबतक शरीरमें अहंता है और शरीरसे सम्बन्धित प्राणि-पदार्थोंमें ममता रहती है, तबतक साधना आगे नहीं बढ़ती; दिन-रात प्राणि-पदार्थोंमें राग-द्वेष बना रहता है। इसलिये या तो शरीर और संसारको असत् समझकर अहंता-ममताको मिटा देना चाहिये या बहुत ही सरल दूसरी चीज यह है कि 'अहंता' (मैं) को भगवान्‌की दासी बना दो (अर्थात् मैं न शरीर हूँ, न पुरुष-स्त्री हूँ, न और कुछ हूँ, न और किसीका हूँ। मैं तो एकमात्र उन्हींका 'दास' हूँ।) और सारी 'ममता'को—सारे 'मेरेपन'को भगवान्‌से जोड़ दो (अर्थात् कोई प्राणी-पदार्थ मेरा नहीं है; एकमात्र भगवान् मेरे हैं, भगवान्‌के श्रीचरण ही मेरे हैं। मैं उनका हूँ और वे मेरे)। बस, फिर अपने-आप ही सारी अशान्ति, सारे दुःख-दोष दूर हो जायँगे। उनका अनन्त-सुखमय स्मरण तुम्हारा जीवन बन जायगा। इससे पहले विश्वास करना होगा कि 'मैं उनका ही हूँ और वे ही मेरे हैं।' इसके बाद निश्चय होगा कि 'ऐसा ही है'। फिर अनुभूति होगी—'मैं उनका ही हूँ और वे ही मेरे हैं'।

× × × × ×

वियोगमें स्मृति निश्चित रहती ही है, स्मृति न रहे तो वियोगका अनुभव ही कैसे हो। प्रभुकी स्मृति कैसे भी हो—प्रेमीके लिये तो वह सर्वथा आनन्ददायिनी ही होनी चाहिये। प्रेमी तो उस संयोग-सुखको भी त्याज्य समझता है, जो स्मृतिके मधुर सुखको मिटानेवाला है। अतएव प्रत्येक वियोगकी स्थितिमें सुख ही होना चाहिये। यह स्मृति ही 'भगवत्प्रेम' है। नारदजीने कहा है—तद्विस्मरणे परमव्याकुलता।'

विस्मृतिमें परम व्याकुलता होनी चाहिये, वह चाहे संयोगमें हो। और प्रभुकी स्मृतिमें ही परम आनन्द होना चाहिये, फिर वह चाहे चिर-वियोगमें ही हो। यही हेतु है कि प्रभुप्रेमी वियोगसे नहीं घबराता।

× × × × ×

'प्रभुकी कृपा हम सभीपर सदा-सर्वदा', अनन्त है,' इस बातपर दृढ़ विश्वास कर लेना चाहिये। हमारी अयोग्यता प्रभु-कृपामें जरा भी बाधक नहीं हो सकती। व्यक्तिका प्रभुकृपापर तथा अपनी अयोग्यता-पर पूरा विश्वास हो जाय अर्थात् अपनी अयोग्यता और प्रभुकी कृपा जहाँ एक साथ मिल जायँ, वहाँ प्रभुकी प्राप्तितक हो जाती है। प्रभु-कृपाकी प्राप्तिके लिये अपनी अयोग्यता ही योग्यता तथा अधिकार है। मनुष्य बेचारा किसपर क्या कृपा करे, वह तो स्वयं ही कृपाका भिखारी है। बस, भगवान्‌की अमोघ कृपापर ही हम सबको विश्वास करना चाहिये।

× × × × ×

'न मुझमें शक्ति-सामर्थ्य है, न अपने किसी साधनका भरोसा है'—ऐसा मानना भगवान्‌की कृपा प्राप्त करनेका सुन्दर तरीका है। जिसको अपने साधनका भरोसा है, वह किसीकी कृपा क्यों चाहेगा? तुम्हारे मनमें जो प्रभुका ही भरोसा है, यह बहुत ही अच्छी बात है। यह भरोसा ही इस बातको स्पष्ट सिद्ध करता है कि 'तुमपर भगवान्‌की बड़ी कृपा है'। तुम्हारा यह भावमय मनोरथ अत्यन्त श्रेष्ठ और भगवान्‌को बहुत प्रिय है कि तुम सर्वदा, सर्वत्र, सभी दिशाओंमें, भारी-से-भारी कष्ट-दुःखमें भी भगवान्‌की अनन्त कृपाको देखते रहो, भगवान्‌का वरद हस्त सदा ही मस्तकपर रहे, वे कभी जरा भी पृथक् हों ही नहीं तथा सारी प्रतिकूलता भगवान्‌में समाकर अनुकूलता बन जाय। जिन भगवान्‌की कृपाने तुम्हारे मनमें यह इच्छा उत्पन्न की है, उसी भगवान्‌की कृपासे तुम्हारी यह सदिच्छा पूर्ण भी होगी। भगवान्‌की कृपा सदा ही अमोघ है। तुम्हारा सदा ही वह परम हित करनेमें लगी है। वह कृपा ही तुम्हारे विश्वास-को अनन्य तथा अमिट करके तुम्हें भगवान्‌की नित्य संनिधिमें रख देगी।

× × × × ×

तुम कहते हो—'मैं भगवान्‌की सारी कृपा नहीं चाहता, मुझे तो अपने हिस्सेकी ही चाहिये', पर कृपामय भगवान्‌की कृपामें हिस्सा-पाँती नहीं होती, वह तो सारी-की-सारी ही मिलती है। उसमें विलक्षणता यही है कि सारी दे देनेपर भी सारी बची रहती है। भगवान्‌के सम्बन्धमें उपनिषद्‌की वाणी है—'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।' पूर्णमेंसे पूर्णको निकाल लेनेपर पूर्ण ही बचा रहता है। जैसे भगवान्‌का स्वरूप नित्य पूर्ण है, उसी प्रकार भगवान्‌की दिव्य कृपाका स्वरूप भी नित्य पूर्ण है। अपनी उदारतावश यदि तुम अधूरी कृपामें प्रसन्न हो जाओ तो तुम्हारी इच्छा है। भगवान् तो सदा-सर्वदा अपनी पूर्ण कृपा ही देनेको प्रस्तुत हैं।

× × × × ×

मेरे भगवान् और तुम्हारे भगवान् दो नहीं हैं। वे एक ही सबके हैं और सभीकी प्रार्थना सुनते हैं, किसीकी उपेक्षा नहीं करते। भगवान्‌के लिये नगण्य जीव भी उतना ही प्रिय है, जितना कोई महान् प्राणी। पर जो कोई विश्वासपूर्वक अपनेको बिना शर्त उनके चरणोंपर चढ़ा देता है, उसके प्रति तो उनका स्नेह-सागर सहज उमड़ पड़ता है। फिर वे उसको सर्वथा अपनाकर अपना बना लेते हैं और उसके अपने बन जाते हैं तथा उसके द्वारा वे ही सब कुछ करते-कराते हैं। वह तो केवल लोगोंके देखनेमें करनेवाला दीखता है। तुम भगवान्‌से प्रार्थना किया करो—मन-ही-मन अपनी मूकभाषामें। वे अन्तर्यामी अन्तरकी भाषाको बहुत जल्दी समझते हैं।

× × × × ×

अनन्त दयार्णव, सहज सुहृद् भगवान् कभी भी अपने सौहार्दसे हमलोगोंको वञ्चित नहीं करते। प्रमादवशमें हम उन्हें उलाहना दें, निष्ठुर बतायें या और कुछ भी कहें तो वे इससे प्रसन्न ही होते हैं, कभी

नाराज होते ही नहीं। वे हृदयके भावको देखते हैं, भाषाको नहीं। अटपटी भाषा तो उन्हें प्रिय हुआ करती है। पर यह निश्चय है कि वे न तो हमारी कभी उपेक्षा करते हैं, न हमारे हितसे कभी हाथ हटाते हैं, न कभी कठोर होते हैं। तुम प्रसन्न रहा करो। भगवान् परीक्षा नहीं ले रहे हैं । उनकी कृपाका पार नहीं है। वह तो सदा असीम है, अनन्त है। तुम चाहते हो कि तुमपर कृपा हो जाय, तो क्या इस समय तुमपर कृपा नहीं है ? तुम कृपापर विश्वास करो और निश्चिन्त हो जाओ। उनकी कृपापर विश्वास होनेपर तीन बातें अवश्य होती हैं—(१) बिलकुल निश्चिन्तता आ जाती है, (२) स्मरण उत्तरोत्तर बढ़ता है तथा (३) परम संतोष हो जाता है—कुछ भी चाह नहीं रह जाती। भगवान्का कृपापात्र अनाथ-अभागा, दीन-हीन, मलिन-पतित कभी नहीं रहता। उसके सद्भावसे दूसरोंको भी भगवान्की कृपा प्राप्त हो जाती है और वे सनाथ बन जाते हैं। अतएव तुम ऐसी बात कभी न सोचा करो, न कल्पना ही किया करो। हाँ, उन्हें प्रेमका उलाहना देना हो, प्रेमवृद्धिके लिये तो दूसरी बात है। भगवान्के सम्मुख हो जानेपर सारे पाप कट जाते हैं। फिर पापका फल कहाँ रहता है। फिर तो भगवान्की लीला रहती है और रहता है उनके प्रेमभरे हृदयसे किया हुआ हमारे लिये प्रेमभरा मङ्गलविधान। उसमें जरा भी दुःख क्यों होना चाहिये।

× × × × ×

संसारकी अनित्यता, क्षणभङ्गुरता तथा दुःखमयताको देखकर भी हमारे मनमें वैराग्य नहीं होता—यही तो मोह है। यह मोह मिट जाय तो फिर राग-द्वेष आदि जो बन्धन और दुःखके प्रधान कारण हैं, रहें ही नहीं। इसके लिये भगवान्की कृपा ही एकमात्र प्रधान उपाय है।

× × × × ×

भगवान्का मार्ग तो बहुत सुगम है, पर साथ ही बहुत कठिन भी है। भगवत्-कृपाका भरोसा दृढ़ हो जानेपर बहुत सुगम है, नहीं तो बहुत कठिन है। अपनेको पता ही नहीं लगता और हम समझते हैं कि भगवान्की स्मृति हो रही है, पर मन किसी अनुकूलताकी उपासनामें लगा रहता है। इसीलिये प्रतिकूलता सहन नहीं होती—जरा-सी प्रतिकूलता मनमें तूफान पैदा कर देती है। पर जहाँ भगवान्की कृपापर दृढ़ भरोसा होता है, वहाँ प्रतिकूलतामें भगवान्के दर्शन होते हैं और वह दर्शन सारी प्रतिकूलताओंको अनुकूलतामें परिवर्तित कर देता है। भगवत्कृपाका दर्शन अमुक परिस्थितिमें हो, अमुकमें न हो—इसका तो अर्थ होता है कि अमुक परिस्थितिकी अनुकूलताको भगवत्कृपा मानना और अमुक परिस्थितिकी प्रतिकूलताको भगवत्कृपा नहीं मानना। यह भगवत्कृपाका यथार्थ दर्शन नहीं है, जो भगवत्कृपापर दृढ़ भरोसा होनेपर हुआ करता है। तुमपर भगवान्की जो अनन्त, असीम कृपा है, वह कभी मिट या घट नहीं सकती। जो कृपा स्वरूपतः घटती, बढ़ती या हटती है, वह भगवत्कृपा नहीं है। हाँ, हमारा विश्वास जैसा होता है, वैसी ही वह दिखायी देती है—घटती, मिटती, हटती और बढ़ती हुई। पर वास्तवमें भगवत्कृपा सदा, सर्वत्र पूर्ण होती है। इस महान् कृपापर दृढ़ विश्वास करो और उसपर भरोसा करो। तुम निरन्तर इस अनन्त कृपासमुद्रमें डूबे रहोगे। निस्संदेह मेरे पास तो यदि कोई बल-भरोसा है, तो बस, इस कृपाका ही।

× × × × ×

जहाँ विशुद्ध प्रेम है, वहाँ तो प्रेम ही परम मूल्यवान् वस्तु है, वहाँ निराशाका कोई प्रश्न ही नहीं है। वहाँ तो सब प्रेम-ही-प्रेम है और उसमें कामना, वासना एवं गुणदर्शनको कोई स्थान न होनेसे वह नित्य निर्मल है तथा उसमें नित्य नयी-नयी आशा-किरणोंका विकास होता रहता है ? प्रेम कभी समाप्त होता ही नहीं, पूरा होता ही नहीं; वह तो बढ़ता ही रहता है। बस, सर्वोत्तम सम्बन्ध यही होना चाहिये, जिसमें केवल विशुद्ध प्रेमका अमृत भरा रहे।

× × × × ×

मनमें निरन्तर प्रभुकी संनिधिका अनुभव होता है, यह बहुत ही उत्तम बात है। शरीर कहीं भी रहे, किसी भी स्थितिमें रहे, मन यदि सदा प्रभुके पास है तो हम सदा प्रभुके पास हैं। और जहाँ प्रभु रहते हैं, वहाँ जगत्के काम-क्रोधादि दूषित विकारोंकी तो बात ही क्या, जगत् भी नहीं जा सकता। श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं—'संसार ! तुम मेरे समीप नहीं आ सकते। तुम वहाँ जाओ, जिसके हृदयमें नन्दनन्दन न बसते हों'—

'सहित सहाय तहाँ बसि अब, जेहि हृदय न नंदकुमार।'

—गोपियोंने तो संसारकी बातसे बहुत दूर ही परमात्मातकके लिये हृदयमें स्थानका अभाव बताया और दिन-रात सभी अवस्थाओंमें श्रीश्यामसुन्दरके हृदयमें बसे रहनेका अनुभव बताया—

नाहिंन रह्यो हिय महँ ठौर। नंदनंदन अछत कैसे आनिए उर और ॥
चलत-चितवत दिवस जागत, सुपन सोवत रात। हृदय तें वह स्याम मूरति छिन न इत-उत जात ॥

उस व्यक्तिका महान् सौभाग्य है, जिसके हृदयमें प्रभु नित्य बसते हैं। तुम्हें जो जागते समय तथा स्वप्नमें भी प्रभुकी संनिधिका अनुभव होता है, यह बहुत ही उत्तम बात है। जो इस प्रकार भगवान्को नित्य-निरन्तर अपने मनमें बसाये रखते हैं—वैसे ही जैसे लोभी धनको बसाये रखता है, 'लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें'—उनके भगवान् स्वयं प्रेमी बन जाते हैं और उसे सुख पहुँचानेमें ही स्वयं सुखका अनुभव करते हैं।

भगवान् कभी क्षणभरके लिये भी मनसे न निकलें, इसमें सावधानी रखना। जगत्का कोई भी विषय, कोई भी प्रलोभन, कोई भी दुःख, कोई भी सुख हमारे मनको क्षणभरके लिये भी अपनी ओर न खींच सके—इसके लिये सचेत रहना तथा भगवान्की असीम अतुलनीय कृपापर विश्वास रखकर नित्य निश्चिन्त रहना चाहिये।

× × × × ×

मृत्यु बूढ़ा-बालक नहीं देखती। हम सभीके शरीरोंकी एक दिन ऐसी दशा होनी है। जैसा जिसका संसारमें रूप होगा, उसीके अनुसार कुछ दिन रो-गाकर संसार उसे भूल जाता है; अपने कर्म-संस्कार ही साथ जाते हैं। इसलिये मनुष्यको बड़ी सावधानीके साथ नित्य-निरन्तर भगवान्का स्मरण करते हुए भगवत्सेवाके भावसे ही यथायोग्य शुभ कर्मोंका आचरण करना चाहिये। मृत्युको देखकर संसारसे तथा भोगोंसे वैराग्य होना चाहिये। हृदयमें भोगोंके बदले भगवान्का पवित्र निवास हो। प्रभुकी स्मृति प्राणोंके साथ घुल-मिल जाय। इसलिये जीवनका एक क्षण भी पाप-चिन्तन और व्यर्थ-चिन्तनमें न खोकर सदा-सर्वदा प्रतिक्षण भगवत्स्मरणकी चेष्टा रखनी चाहिये। तुम सर्वदा-सर्वथा प्रभुपर ही निर्भर हो, यह बहुत ही अच्छी बात है। जो वास्तवमें प्रभुपर निर्भर होता है, परम-प्रेमास्पद, करुणासागर, अकारण कृपालु, सहज सुहृद् हमारे वे प्रभु उसके जीवनको निर्विघ्न बनाकर अपना लेते हैं। उसके हृदयको अपना नित्य निवास बना लेते हैं तथा उसको अपने हृदयमें लोभीके धनकी ज्यों बसा लेते हैं।

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु, तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु ॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें ॥

—अपने हृदयको यदि हम और सब चीजोंसे खाली करके प्रभुके लिये उपयुक्त कर दें तो प्रभु उसे अपना नित्य-निवास बनाकर एक क्षणके लिये भी वहाँसे नहीं हटते, इस बातपर विश्वास करके प्रभुके शरणापन्न हो जाना चाहिये।

गीताका भक्तियोग

(लेखक—पूज्य स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[गताङ्क पृष्ठ ८५१से आगे]

सम्बन्ध

पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने सगुण-उपासकोंको सर्वोत्तम योगी बतलाया, इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि क्या निर्गुण-उपासक सर्वोत्तम योगी नहीं है ? इसपर भगवान् कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

भावार्थ

इन श्लोकोंमें भगवान्‌ने निर्गुण उपासनाके विषयमें चार बातें बतलायी हैं—(१) निर्गुण-तत्त्वका स्वरूप क्या है ? (२) साधक स्वयं क्या है ? (३) उपासनाका स्वरूप क्या है ? और (४) प्राप्त क्या करता है ?

टिप्पणी

अर्जुनने पहले श्लोकके उत्तरार्द्धमें जिस निर्गुण-तत्त्वके लिये 'अक्षरम्' और 'अव्यक्तम्'—दो विशेषण देकर प्रश्न किया था, उसी तत्त्वका विस्तारसे वर्णन करनेके लिये भगवान्‌ने छः विशेषण और दिये, अर्थात् कुल आठ विशेषण दिये, जिनमें पाँच निषेधात्मक (अक्षरम्, अनिर्देश्यम्, अव्यक्तम्, अचिन्त्यम् और अचलम्) और तीन विधेयात्मक (सर्वत्रगम्, कूटस्थम् और ध्रुवम्) हैं ।

निर्गुण-तत्त्वका कभी 'क्षरण' अर्थात् नाश नहीं होता, इसलिये वह 'अक्षरम्' है; वाणीसे, संकेतसे अथवा उपमाके द्वारा किसी प्रकार भी उसका स्वरूप कहा और समझाया नहीं जा सकता, इसलिये 'अनिर्देश्यम्' है; किसी भी इन्द्रियका विषय न होनेसे अर्थात् निराकार होनेसे 'अव्यक्तम्' है; मन-बुद्धिके द्वारा चिन्तनसे सर्वथा परे होनेके कारण 'अचिन्त्यम्' है; गतिशील न होनेके कारण 'अचलम्' है; सभी देश, काल, वस्तुओंमें परिपूर्ण होनेसे 'सर्वत्रगम्' है; सबमें रहते हुए भी निर्विकार होनेके कारण 'कूटस्थम्' है और उसकी सत्ता निश्चित और नित्य होनेके कारण 'ध्रुवम्' है ।

निर्गुण-साधनामें ऐसे तत्त्वपर दृष्टि रहनेसे जो सब देश, काल, वस्तु और व्यक्तियोंमें परिपूर्ण है, साधक 'सर्वत्र समबुद्धयः' हैं । भोगोंकी सत्ता माननेसे ही भोग भोगनेकी इच्छा होती है और भोग भोगे जाते हैं, परंतु इन साधकोंकी दृष्टिमें परमात्माके सिवा दूसरी सत्ता न रहनेसे इन्द्रियसंयम स्वतः होगा । सबमें आत्मबुद्धि होनेके कारण उनकी सब प्राणियोंके हितमें रति स्वतः ही रहती है, इसलिये वे 'सर्वभूतहिते रताः' हैं ।

साधकका हर समय उस तत्त्वकी ओर रहना ही 'उपासना' है । भगवान् कहते हैं कि 'ऐसे साधकोंको जो निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, वह मेरी ही प्राप्ति है; क्योंकि ब्रह्म मैं ही हूँ ।' (गीता १४ । २७)

अन्वय

तु, ये, इन्द्रियग्रामम्, संनियम्य, अचिन्त्यम्, सर्वत्रगम्, अनिर्देश्यम्, च, कूटस्थम्, ध्रुवम्, अचलम्, अव्यक्तम्, अक्षरम्, पर्युपासते, ते, सर्वभूतहिते रताः, सर्वत्र समबुद्धयः, माम्, एव, प्राप्नुवन्ति ॥ ३-४ ॥

तु (और)

'तु' पद यहाँ साकार-उपासकोंसे निराकार-उपासकोंकी भिन्नता दिखलानेके लिये आया है । गीताजीमें और भी स्थानोंमें 'तु' पद प्रकरणकी भिन्नता दिखलानेके लिये ही आया है, जैसे इसी अध्यायके २०वें श्लोकमें 'तु' पद सिद्ध भक्तोंके प्रकरणसे साधक भक्तोंके प्रकरणका पार्थक्य करनेके लिये आया है ।

ये (जो)

'ये' पद निर्गुण ब्रह्मके उपासकोंका वाचक है । इसी अध्यायके चौथे श्लोकमें 'ते' पद इन्हीं साधकोंके लिये आया है ।

इन्द्रियग्रामम् संनियम्य (इन्द्रियोंके समुदायको अच्छी प्रकार वशमें करके)

'सम्' और 'नि' दो उपसर्ग 'यम्' क्रियाके साथ देकर भगवान्‌ने बताया कि इन्द्रियोंको एक तो सम्यक् प्रकारसे एवं दूसरे निःशेषरूपसे वशमें करे, जिससे वे किसी ओर भी न जायँ। अगर इन्द्रियाँ अच्छी प्रकारसे वशमें नहीं होंगी तो निर्गुणकी उपासना कठिन होगी। सगुण-उपासनामें तो ध्यानका विषय सगुण भगवान् होनेसे इन्द्रियाँ अपने-आप भगवान्‌में लग जायँगी; क्योंकि इन्द्रियाँ स्वयं सगुण हैं, अतएव सगुण विषयमें स्वतः लग जाती हैं। अतः सगुण-उपासनामें इन्द्रियसंयमकी आवश्यकता होते हुए भी उतनी अधिक आवश्यकता नहीं है, जितनी निर्गुण-उपासनामें है; क्योंकि निर्गुण-उपासनामें चिन्तनका कोई आधार न रहनेसे इन्द्रियोंका सर्वथा संयम हुए बिना विषयोंमें मन जाता ही रहेगा और विषयोंका चिन्तन होकर साधकके पतनकी ओर जानेकी विशेष सम्भावना है (गीता २। ६२-६४)। अतः इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाते हुए सम्यक् प्रकारसे और निःशेषरूपसे वशमें करना है। इन्हें केवल बाहरसे ही वशमें नहीं करना है, अपितु साधकको चाहिये कि विषयोंके प्रति उसके अन्तरका आंशिक राग भी न रहे; क्योंकि जबतक विषयोंमें यत्किंचित् भी राग है, तबतक ब्रह्मकी प्राप्ति कठिन है (गीता ६। ३६; १५। ११)।

दूसरे अध्यायके ६८ वें श्लोकमें 'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः निगृहीतानि' पदोंसे, चौथे अध्यायके २१वें श्लोकमें 'यतचित्तात्मा' पदसे, पाँचवें अध्यायके ७वें श्लोकमें 'विजितात्मा, जितेन्द्रियः' पदोंसे, छठे अध्यायके ७वें श्लोकमें 'जितात्मनः' पदसे और ८वें श्लोकमें 'विजितेन्द्रियः' पदसे सिद्ध महापुरुषोंकी अच्छी प्रकारसे जीती हुई इन्द्रियोंका वर्णन हुआ है।

यहाँ यह बात समझनेकी है कि 'आत्मा' पद गीताजीमें शरीरके लिये, मन-बुद्धिके लिये और मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसहित शरीरके लिये भी आया है। अतः जहाँ आत्माको वशमें करनेकी बात है, वहाँ प्रसङ्गके अनुकूल ही अर्थ ले लेना चाहिये।

दूसरे अध्यायके ६१वें श्लोकमें 'सर्वाणि संयम्य' पदोंसे और ६४वें श्लोकमें 'रागद्वेषवियुक्तैः, इन्द्रियैः' पदोंसे, तीसरे अध्यायके ७वें श्लोकमें 'मनसा इन्द्रियाणि नियम्य' पदोंसे, चौथे अध्यायके २६वें श्लोकमें 'श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि संयमाग्निषु' पदोंसे और २७वें श्लोकमें 'सर्वाणीन्द्रियकर्माणि····आत्मसंयम····' पदोंसे तथा ३९वें श्लोकमें 'संयतेन्द्रियः' पदसे, पाँचवें अध्यायके २८वें श्लोकमें 'यतेन्द्रियमनोबुद्धिः' पदसे, छठे अध्यायके ६ठे श्लोकमें 'आत्मना जितः' पदोंसे, १२वें श्लोकमें 'मनः एकाग्रं कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः' पदोंसे, १४वें श्लोकमें 'मनः संयम्य' पदोंसे, २४वें श्लोकमें 'इन्द्रियग्रामं विनियम्य' पदोंसे और ३६वें श्लोकमें 'वश्यात्मना' पदसे, आठवें अध्यायके १२वें श्लोकमें 'सर्वद्वाराणि संयम्य' पदोंसे, सोलहवें अध्यायके पहले श्लोकमें 'दमः' पदसे और अठारहवें अध्यायके ५२ वें श्लोकमें 'यतवाक्कायमानसः' पदोंसे साधकोंको इन्द्रियाँ वशमें करनेके लिये कहा गया है।

तीसरे अध्यायके ६ठे श्लोकमें 'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य' पद दम्भाचारीके द्वारा हठपूर्वक इन्द्रियोंके रोके जानेके विषयमें आये हैं। यहाँ 'संयम्य' पद इन्द्रियोंको विषयोंसे हठपूर्वक रोकनेके लिये आया है, न कि इन्द्रियोंको वशमें करनेके लिये।

अचिन्त्यम् (मन-बुद्धिसे परे)

मन-बुद्धिके चिन्तनसे सर्वथा परे होनेके कारण 'अचिन्त्यम्' पद सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका वाचक है। दूसरे अध्यायके २५वें श्लोकमें 'अचिन्त्यः' पद आत्माके स्वरूपके वर्णनमें आया है और आठवें अध्यायके ९वें श्लोकमें 'अचिन्त्यरूपम्' पद सगुण-निराकारका वाचक है।

सर्वत्रगम् (सर्वव्यापी)

सभी देश, काल, वस्तु और व्यक्तियोंमें परिपूर्ण होनेसे ब्रह्म 'सर्वत्रगम्' है। नवें अध्यायके ६ठे श्लोकमें 'सर्वत्रगः' पद दृश्यजगत्में सर्वत्र विचरनेवाली वायुका विशेषण है।

अनिर्देश्यम् (अकथनीयस्वरूप)

इदंतासे जिसे नहीं बताया जा सकता अर्थात् जो भाषा, वाणी आदिका विषय नहीं है, वह 'अनिर्देश्यम्' है। निर्देश अर्थात् संकेत उसीका किया जा सकता है, जो एकदेशमें हो; किंतु जो तत्त्व सर्वत्र परिपूर्ण हो, उसका संकेत किया जाना असम्भव है।

च (और)

कूटस्थम् (सदा एकरस रहनेवाला)

यह पद नित्य, निर्विकार, सदा एकरस रहनेवाले सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका वाचक है। सभी देश, काल, वस्तु और व्यक्तियोंमें रहते हुए भी उस तत्त्वमें निर्विकारता और निर्लेपता है। वह तत्त्व जैसा है, वैसा ही रहता है। उसमें कभी, किंचिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता। इसलिये वह 'कूटस्थम्' है। छठे अध्यायके ८वें श्लोकमें 'कूटस्थः' पद निर्विकार ज्ञानी महात्माओंका वाचक है और पंद्रहवें अध्यायके १६वें श्लोकमें 'कूटस्थः' पद जीवात्माका वाचक है।

ध्रुवम् (नित्य)

जिसकी सत्ता निश्चित और नित्य है, उसे 'ध्रुवम्' कहते हैं। सच्चिदानन्दघन ब्रह्म सत्तारूपसे सर्वत्र विराजमान रहनेसे 'ध्रुवम्' है। आठ विशेषणोंमें सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषण 'ध्रुवम्' ही है। इसका अर्थ है— जो सत्तारूपसे सर्वत्र है। दूसरे अध्यायके २७वें श्लोकमें 'ध्रुवम्' पद 'निश्चित' अर्थका बोधक है।

अचलम् (अचल)

हिलने-डुलनेकी क्रियासे सर्वथा रहित सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका वाचक 'अचलम्' पद है। दूसरे अध्यायके २४वें श्लोकमें 'अचलः' पद जीवात्माके लक्षणोंमें आया है और ५३वें श्लोकमें 'अचला' पद बुद्धिकी स्थिरताका वाचक है; छठे अध्यायके १३वें श्लोकमें 'अचलम्' पद ध्यानयोगकी विधिमें शरीरको हिलने-डुलने न देनेके लिये आया है; सातवें अध्यायके २१वें श्लोकमें 'अचलाम्' पद श्रद्धाकी स्थिरताका द्योतक है और आठवें अध्यायके १०वें श्लोकमें 'अचलेन' पद मनकी एकाग्रताके अर्थमें आया है।

अव्यक्तम् (निराकार)

जो व्यक्त न हो अर्थात् मन, बुद्धि और इन्द्रियोंका विषय न हो और जिसका कोई रूप या आकृति न हो, उसे 'अव्यक्तम्' कहते हैं। दूसरे अध्यायके २५वें श्लोकमें 'अव्यक्तः' पद आत्माके स्वरूपके वर्णनमें आया है और २८वें श्लोकमें 'अव्यक्तादीनि' तथा 'अव्यक्त-निधनानि' पदोंका प्रयोग यह बतलानेके लिये किया गया है कि प्राणियोंके जन्मसे पहले एवं मरनेके बाद उनका स्थूलशरीर प्रत्यक्ष नहीं दिखायी देता; सातवें अध्यायके २४वें श्लोकमें 'अव्यक्तम्' पद और नवें अध्यायके ४थे श्लोकमें 'अव्यक्तमूर्तिना' पद दोनों ही सगुण-निराकार परमात्माके वाचक हैं; आठवें अध्यायके १८वें श्लोकमें 'अव्यक्तात्' और 'अव्यक्तसंज्ञके' पद तथा २०वें श्लोकमें 'अव्यक्तात्' पद ब्रह्माके सूक्ष्म-शरीरके वाचक होनेके कारण प्रकृतिके वाचक हैं और तेरहवें अध्यायके ५वें श्लोकमें 'अव्यक्तम्' पद मूल-प्रकृतिका वाचक है। आठवें अध्यायके २०वें और २१वें श्लोकोंमें 'अव्यक्तः' पद, इसी अध्यायके पहले श्लोकमें 'अव्यक्तम्' पद और ५वें श्लोकमें 'अव्यक्तासक्तचेतसाम्' के अन्तर्गत 'अव्यक्त' पद तथा 'अव्यक्ता गतिः' पद सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके लिये आये हैं।

अक्षरम् (अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्म)

'न क्षरति इति अक्षरः' जिसका कभी क्षरण अर्थात् विनाश नहीं होता, वह 'अक्षरम्' है। यहाँ 'अक्षरम्'

पद अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका वाचक है। आठवें अध्यायके ३ रे और ११वें श्लोकोंमें, ग्यारहवें अध्यायके १८वें और ३७वें श्लोकोंमें तथा इसी अध्यायके पहले श्लोकमें 'अक्षरम्' पद निर्गुण ब्रह्मका वाचक है, आठवें अध्यायके २१वें श्लोकमें 'अक्षरः' पद परमगतिका वाचक है और १३वें श्लोकमें तथा दसवें अध्यायके २५वें श्लोकमें 'अक्षरम्' पद प्रणवका वाचक है तथा पंद्रहवें अध्यायके १६वें श्लोकमें 'अक्षरः' पद दो बार आया है और दोनों ही बार जीवात्माके लिये आया है।

पर्युपासते (निरन्तर उपासना करते हैं)

इन श्लोकोंमें आठ विशेषणोंसे ब्रह्मका स्वरूप बतलाकर जो कुछ विशेष वस्तु-तत्त्वका लक्ष्य कराया गया है और उससे जो एक विशेष वस्तु समझमें आती है, वह बुद्धि-विशिष्ट ब्रह्मका ही स्वरूप है; क्योंकि निर्गुण-निर्विशेष ब्रह्मका स्वरूप विधि या निषेध किसी भी प्रकारसे पूर्णतया नहीं बताया जा सकता। इसलिये निर्गुण-तत्त्वका लक्ष्य रखकर बुद्धि-विशिष्ट ब्रह्मकी उपासना करना ही निर्गुण-ब्रह्मकी उपासना है। इस तरह उपासना करनेसे साधकको निर्गुण-ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।

ते (वे)

सर्वभूतहिते रताः (सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत हुए)

(१) प्राणिमात्रके हितमें अर्थात् सेवामें जो लगे हुए हैं, वे 'सर्वभूतहिते रताः' हैं।

(२) प्राणिमात्रके हितमें जिनकी प्रीति है, वे 'सर्वभूतहिते रताः' हैं।

(३) 'सर्वभूतानाम् हिते (परमात्मनि) रताः ते सर्वभूतहिते रताः'।

अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियोंका वास्तविक हित परमात्मा ही है और परमात्मामें जो रत हैं, वे 'सर्वभूतहिते रताः' हैं।

कर्मयोगके साधनमें आसक्ति, ममता और स्वार्थके त्यागकी मुख्यता है। मनुष्य जब शरीर और पदार्थोंको दूसरोंकी सेवामें लगायेगा तो उसकी आसक्ति, ममता और स्वार्थभाव स्वतः हटेगा। जिसका उद्देश्य प्राणिमात्रकी सेवा करना ही है, वह अपने शरीर और पदार्थोंको (दीन, दुखी, अभावग्रस्त) प्राणियोंकी सेवामें लगायेगा ही। प्राणियोंकी शारीरिक सेवासे अहंता और उनकी सेवामें पदार्थोंको लगानेसे ममता हटेगी। इसलिये कर्मयोगके साधनमें सब प्राणियोंके हित अर्थात् सेवामें लगना अत्यावश्यक है। अतः 'सर्वभूतहिते रताः' इस पदका कर्मयोगका आचरण करनेवालोंके सम्बन्धमें प्रयोग करना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। परंतु भगवान्‌ने इस पदका प्रयोग यहाँ तथा पाँचवें अध्यायके २५वें श्लोकमें दोनों ही जगह निर्गुण-उपासकोंके विषयमें किया है। अतः यहाँ इस पदसे भगवान्‌का विशेष तात्पर्य है।

एक अत्यन्त मार्मिक बात यह है कि प्राणिमात्रके हितमें की जानेवाली सेवाका भाव असीम है, पदार्थोंसे की जानेवाली सेवा असीम नहीं होती; क्योंकि मात्र पदार्थ मिलकर भी सीमित ही होते हैं और सीमित पदार्थोंसे की जानेवाली सेवा भी सीमित ही होगी। अतः उनसे असीमकी प्राप्ति नहीं होगी। दूसरी बात यह है कि पदार्थ एवं क्रिया सीमित होनेपर भी रति असीम होनेसे असीम तत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी; क्योंकि जिनकी प्राणिमात्रके हितमें प्रीति हो, उनके पास वस्तु बची रहनेपर भी बाधा देनेवाली नहीं होगी। उदाहरणार्थ—भगवान् श्रीरामके प्रकट होनेके समय महाराज दशरथजीने—

'सर्बस दान दीन्ह सब काहू। जो पावा राखा नहिं ताहू॥'

—के अनुसार अपना सर्वस्व लुटा दिया; परंतु जिसे जो कुछ मिला, उसने भी उसे अपने पास नहीं रखा। जब क्रिया और पदार्थ भी प्राणिमात्रके हितमें रति होनेसे असीम होकर असीमकी प्राप्ति करा देते हैं, तब प्राणिमात्रके हितमें अर्थात् सेवामें ही जिनकी रति है,

उनके उस असीम भावसे असीम तत्त्व मिल जाय, इसमें तो कहना ही क्या है ।

निर्गुण-उपासकोंकी साधनाके अन्तर्गत अवान्तर भेद अनेकों होते हुए भी मुख्य भेद दो हैं—

(१) जड-चेतन और चर-अचरके रूपमें जो कुछ प्रतीत होता है, वह सब आत्मा ही है या ब्रह्म है ।

(२) जो कुछ दृश्यवर्ग प्रतीत होता है, वह मायामय है—इस प्रकार बाध करके जो शेष बच रहता है, वह आत्मा या ब्रह्म है ।

पहली साधनामें 'सब कुछ ब्रह्म है', इतना सीख लेने मात्रसे ज्ञाननिष्ठा सिद्ध नहीं होती । अन्तःकरणमें जबतक काम-क्रोधादि विकार हैं, तबतक ज्ञाननिष्ठाका साधन होना बहुत कठिन है । पाँचवें अध्यायके छठे श्लोकमें 'संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः' (कर्मयोगके बिना ज्ञाननिष्ठा कठिन है) पदोंसे भगवान्‌ने बतलाया है कि कर्मयोगीके लिये जैसे सभी प्राणियोंकी सेवाके हितमें प्रीति होना अत्यावश्यक है, वैसे ही निर्गुण-उपासना करनेवाले साधकोंके लिये भी प्राणिमात्रके हितमें रति होना आवश्यक है । इसीलिये भगवान्‌ने यहाँ ज्ञानयोगके प्रसङ्गमें 'सर्वभूतहिते रताः' पदका प्रयोग किया है, जिसका तात्पर्य यह है कि अपने शरीर तथा पदार्थोंको दूसरोंकी सेवामें लगानेसे ही उनकी अहंता तथा ममता मिटेगी ।

दूसरी साधनामें संसारसे उदासीन रहकर जो साधक एकान्तमें ही तत्त्वका चिन्तन करते रहते हैं, उनकी उक्त साधनामें कर्मोंका स्वरूपसे त्याग सहायक तो है, परंतु केवल कर्मोंको स्वरूपसे त्यागने मात्रसे सिद्धि प्राप्त नहीं होती (गीता ३ । ४ का उत्तरार्द्ध), अपितु सिद्धि प्राप्त करनेके लिये भोगोंसे वैराग्य और शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियोंमें अपनेपनके त्यागकी अत्यन्त आवश्यकता है ।

सांख्ययोगीका लक्ष्य शरीरसे अलग होना है न कि संसारसे; क्योंकि जबतक वह अपनेको शरीरसे सर्वथा अलग नहीं समझ लेता, तबतक संसारसे अलग रहनेपर भी लक्ष्य-सिद्धि नहीं होती; क्योंकि शरीर भी तो संसारका ही एक अङ्ग है और शरीरसे अहंता, ममता, आसक्तिका मिटना ही उससे वास्तविक अलग होना है । इसलिये अहंता, ममता, आसक्ति मिटानेके लिये उनका प्राणिमात्रके हितमें लगना अति आवश्यक है । दूसरी बात यह है कि साधक सर्वदा ही एकान्तमें रहे, यह सम्भव भी नहीं है; क्योंकि शरीर-निर्वाहके लिये उसे व्यवहार-क्षेत्रमें आना ही पड़ता है और वैराग्यकी कमी होनेपर व्यवहारमें कठोरता आनेकी सम्भावना रहती है, एवं कठोरता आनेसे व्यक्तित्वका विलय अर्थात् अहंताका नाश नहीं होगा । सुतरां तत्त्वकी प्राप्तिमें कठिनता होगी । व्यवहारमें कहीं कठोरता न आ जाय, इसके लिये भी सभी भूतोंके हितमें रत रहना उसके लिये अत्यावश्यक है । यह माना जा सकता है कि ऐसे साधकोंके द्वारा सेवाके कार्योंका विस्तार नहीं होगा; परंतु भगवान् कहते हैं कि उनकी भी सभी प्राणियोंके हितमें रति होनेके कारण वे अपनी साधनामें तत्परतासे आगे बढ़ेंगे ।

यदि यह मान लिया जाय कि साधक सर्वथा एकान्तमें ही परमात्म-तत्त्वका चिन्तन करता रहता है, तो उसके लिये यह प्रश्न उपस्थित होगा कि वह दूसरे प्राणियोंकी सेवामें कैसे लगेगा और 'सर्वभूतहिते रताः' पदका प्रयोग उसके लिये कैसे उपयुक्त होगा ? इसका उत्तर यह है कि वह भी सब भूतोंके वास्तविक हित परमात्मामें ही सर्वथा लीन रहनेके कारण 'सर्वभूतहिते रताः' है । अतः ऐसे लोगोंके लिये भी यह पद ठीक ही प्रयुक्त हुआ है ।

जैसे मनुष्य अपने शरीरकी सेवा स्वतः ही बिना किसीके उपदेश किये बड़ी सावधानीसे करता है एवं

करनेका अभिमान भी नहीं करता, वैसे ही सिद्ध महापुरुषोंकी सर्वत्र आत्मबुद्धि होनेसे उनकी सबके हितमें रति स्वतः रहती है (गीता ६ । ३२) । उनके द्वारा प्राणिमात्रका कल्याण होता है; परंतु उनके मनमें इस भावकी रेखा भी नहीं होती कि मैं किसीका कल्याण कर रहा हूँ; उनमें अहंताका सर्वथा अभाव जो है ।

अतः साधकको चाहिये कि सर्वत्र आत्मबुद्धि करके संसारके किसी भी प्राणीको किंचिन्मात्र भी दुःख न पहुँचाकर सदा तत्परतासे स्वाभाविक ही उनको सुखके पहुँचानेमें ही प्रीति करे । इस प्रकार सबके हितमें प्रीति करनेसे उसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है ।

पाँचवें अध्यायके २५वें श्लोकमें 'सर्वभूतहिते रताः' पद निर्गुण-उपासकोंके लिये आया है ।

सर्वत्र समबुद्धयः (सबमें समान भाववाले)

इस पदका भाव यह है कि निर्गुण-निराकार ब्रह्मके उपासकोंकी दृष्टि सर्वत्र एवं सम्पूर्ण प्राणी-पदार्थोंमें परिपूर्ण परमात्मापर ही रहनेके कारण किसी भी समय विषम होती ही नहीं ।

यहाँ ज्ञाननिष्ठावाले उपासकोंके लिये इस पदका प्रयोग करके भगवान् एक विशेष भाव प्रकट करते हैं । वह यह कि ज्ञानमार्गियोंके लिये एकान्त देशमें रहकर तत्त्वका चिन्तन करना ही एकमात्र साधन नहीं है; क्योंकि व्यवहारकालमें ही विशेषतासे 'समबुद्धयः' पदकी सार्थकता होती है । दूसरे, संसारसे हटकर शरीरको निर्जन स्थानमें ले जाना ही सर्वथा एकान्त-सेवन नहीं है; क्योंकि शरीर भी तो संसारका ही एक अङ्ग है । वास्तविक एकान्तकी सिद्धि तो परमात्मतत्त्वके अतिरिक्त किसी अन्यकी अर्थात् शरीर और संसारकी सत्ता न होनेसे ही होती है । साधना करनेके लिये यह एकान्त भी उपयोगी है; परंतु ऐसे एकान्तसेवी साधकके द्वारा व्यवहारकालमें भूल होनी सम्भव है, जब कि वास्तविक एकान्तसेवी महापुरुषोंके द्वारा भूल कभी होती ही नहीं; क्योंकि उनकी दृष्टिमें दूसरी सत्ताका सर्वथा अभाव है । अतः साधकको चाहिये कि वास्तविक एकान्तको लक्ष्यमें रखकर अर्थात् शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे अपनी अहंता-ममता हटाकर उस सर्वत्र परिपूर्ण ब्रह्ममें अभिन्न भावसे स्थित रहे । ऐसे लोग ही वास्तवमें 'समबुद्धयः' हैं ।

गीताजीमें 'समबुद्धि'का तात्पर्य 'समदर्शन' है, न कि 'समवर्तन' । पाँचवें अध्यायके १८वें श्लोकमें भगवान्ने विद्या और विनययुक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चण्डाल—इन पाँच प्राणियोंके नाम गिनाये हैं, जिनके साथ व्यवहारमें किसी भी तरह समता होनी असम्भव है, वहाँ भी 'समदर्शिनः' पद ही प्रयुक्त हुआ है । इससे तात्पर्य यह निकला कि बर्ताव कभी समान नहीं हो सकता; बर्तावमें भिन्नता अनिवार्य है । परंतु ऐसे साधकोंकी दृष्टि सम्पूर्ण प्राणी-पदार्थोंकी आकृति और उपयोगितापर न रहकर उनमें परिपूर्ण परमात्मापर रहनेसे उनमें आन्तरिक समता रहती है । अतः 'समबुद्धयः' पदसे आन्तरिक समताकी ओर ही लक्ष्य है, व्यावहारिक समताकी ओर नहीं ।

सिद्ध महापुरुषोंकी दृष्टिमें परमात्माके सिवा दूसरी सत्ता न रहनेसे वे सदा और सर्वत्र 'समबुद्धयः' ही हैं, जब कि साधकोंकी दृष्टिमें परमात्माके सिवा अन्य पदार्थोंकी भी जितने अंशमें सत्ता रहती है, उतने अंशमें उनकी बुद्धिमें समता नहीं रहती । अतः साधककी बुद्धिमें अन्य पदार्थोंकी अर्थात् संसारकी सत्ता जितनी-जितनी कम होती चली जायगी, उतनी-उतनी ही उसकी सम-बुद्धि होती जायगी ।

साधक अपनी बुद्धिसे सर्वत्र परमात्माको देखनेकी चेष्टा करता है, जब कि सिद्ध महापुरुषोंकी बुद्धिमें परमात्मा इतनी घनतासे परिपूर्ण हैं कि उनके लिये परमात्माके सिवा और कुछ है ही नहीं । इसलिये उनकी

बुद्धिका विषय परमात्मा नहीं है, अपितु उनकी बुद्धि ही परमात्मासे परिपूर्ण है। अतएव वे 'सर्वत्र समबुद्धयः' हैं।

पाँचवें अध्यायके १९वें श्लोकमें 'येषां साम्ये स्थितं मनः' पद और छठे अध्यायके ९वें श्लोकमें 'समबुद्धिः' पद इसी अर्थमें सिद्ध भक्तोंके लिये प्रयुक्त हुए हैं। छठे अध्यायके ३२वें श्लोकमें 'समं पश्यति' पदका भी सिद्ध भक्तोंके लिये ही प्रयोग हुआ है।

'पश्यति' (देखना) तीन तरहसे होता है—(१) नेत्रोंसे देखना, (२) बुद्धिसे देखना और (३) अनुभवद्वारा स्वरूपतः देखना। यहाँ 'पश्यति' पद अनुभवके अर्थमें आया है। छठे अध्यायके २९वें श्लोकमें 'समदर्शनः' पद साधकोंके लिये आया है।

माम् एव प्राप्नुवन्ति (मुझको ही प्राप्त होते हैं)

इन पदोंसे भगवान् यह स्पष्ट करते हैं कि 'निर्गुणके उपासक कहीं यह न समझ लें कि निर्गुण-तत्त्व कोई दूसरा है और मैं (सगुणरूप) कोई दूसरा हूँ। मैं और निर्गुण-तत्त्व एक ही हैं। ब्रह्म-तत्त्व मुझसे भिन्न नहीं है—

'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' (गीता १४। २७)

सगुण और निर्गुण दोनों मेरे ही दो रूप हैं।'

(अ० १२। ३-४)

क्रमशः

आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ

भगवान् भक्तवाञ्छा-कल्पतरु हैं।

एक बात गिरह बाँधकर रखिये—'भगवान् भक्तवाञ्छा-कल्पतरु हैं' अर्थात् उनसे कोई भी कुछ भी चाहे, वे वही चीज उसे उसी क्षण देते हैं और आप यदि कोई ऐसी चीज माँग बैठें कि उसके मिलनेसे आपकी हानि होगी तो दो बातोंमेंसे एक बात करते हैं—या तो उसके मनसे उस चीजकी इच्छा मिटाकर उसके मनको ही शान्त बना देते हैं अथवा वह चीज देकर साथ ही उससे होनेवाली हानिसे बचनेका उपाय भी कर देते हैं। अर्थात् जिस चीजसे उसकी हानि होगी, उसके लिये यदि वह जिद कर बैठा कि 'हमें तो वह दे ही दें'—बिल्कुल बालककी तरह अड़ गया—तो फिर भगवान् तो सर्वसमर्थ हैं। वे चीज भी अवश्य दे देते हैं और उससे जो हानि हो सकती है, उससे बचनेका उपाय भी कर देते हैं। यही बात सब चीजोंके विषयमें समझनी चाहिये। भगवान्‌के लिये लाख, करोड़, अरब रुपया देना अथवा मोक्ष देना—दोनों समान हैं; न तो उनके लिये मोक्षकी कोई कीमत है न धनकी। इसी प्रकार श्रद्धा चाहते ही वे श्रद्धा निश्चय करा ही देंगे। पर ये सब बातें उसीके लिये होंगी, जिसका सचमुच भगवान्‌पर एकनिष्ठ भरोसा है।

जिस मनकी बात आप कह रहे हैं, वहीं, उसी मनमें भगवान् हैं और वे जानते हैं कि यह क्या चाहता है। वे बिल्कुल—रत्ती-रत्ती जानते हैं कि आपके मनमें क्या है। आप भी या संसारमें कोई भी नहीं जानता कि असलमें आपके मनमें क्या है; पर वे ठीक-ठीक जानते हैं। और यदि आपकी चाह सच्ची है और किसी ऐसी चीजकी नहीं है जिससे हानि होनेकी सम्भावना हो तो उस चाहकी पूर्ति वे अभी, इसी क्षण कर दें या चाह ही मिटाकर शान्ति दे दें।

आप कह सकते हैं कि 'जब वे रत्ती-रत्ती बात सुन रहे हैं, जान रहे हैं, तब फिर वे क्यों नहीं करते?' इसका उत्तर यही है कि 'वे ही जानें'। सोचनेसे दो ही बातें समझमें आती हैं—(१) सच्ची चाह नहीं है, (२) या ऐसी चाह है, जिसकी पूर्तिमें आपकी हानि हो। तीसरी कोई बात समझमें

नहीं आती । सच्ची चाहकी यही पहचान है कि बस, केवल वही चाह रहेगी, और सब स्वाहा ।

संत भगवान्के प्रतिनिधि हैं ।

देवताओंके विषयमें तो आप यह समझें कि जैसे मजिस्ट्रेट है, कलक्टर है, कमिश्नर है, वैसे ही वे हैं । मजिस्ट्रेट आदिका अधिकार बँधा हुआ है; इतना-इतना काम वे कर सकते हैं, उससे अधिक नहीं । उस अधिकारके अंदर किसीके लिये वे जो चाहें, कर सकते हैं; पर अधिकारके बाहर मजाल नहीं है कि वे कलक्टर, कमिश्नर किसीको कुछ दे सकें या किसीका बिगाड़ कर सकें । वैसे ही देवताओंकी शक्ति सीमित, बँधी हुई है अर्थात् उनके अंदर यह शक्ति भगवान्की ओरसे दी हुई है कि 'तुमलोग इतना-इतना काम कर सकते हो ।' इन्द्र, अग्नि, वरुण—सब देवता हैं । मान लीजिये, इनका यज्ञ कोई करता है; यदि यज्ञ ठीक-ठीक विधि-विधानसे पूरा हुआ तो इनकी जितनी शक्ति है, उसके अनुसार वे उस यज्ञका पूरा-पूरा फल दे देंगे । पर सभी चीज वे नहीं दे सकते । संत-महापुरुष तो भगवान्के प्रतिनिधि हैं । बादशाहके प्रतिनिधिको यह पूरा-पूरा अधिकार रहता है कि वह राज्यमें जो चाहे, वही कर सकता है । बादशाहकी तरह ही उसकी शक्ति होती है तथा उसकी आज्ञाका पालन राज्यके समस्त बड़े-से-बड़े कर्मचारियोंको करना पड़ता है; नहीं करेंगे तो वे हटा दिये जायँगे । संत भगवान्का प्रतिनिधि होता है, वह चाहे जो कर सकता है । उसका प्रत्येक वचन भगवान्का वचन है, उसकी कही हुई प्रत्येक आज्ञा भगवान्की आज्ञा है ।

संतकी पहचान असम्भव है; पर दो कसौटियाँ हैं, जिनपर कसकर चलनेसे पछताना नहीं पड़ेगा—१–जिस पुरुषके सङ्गसे आपमें भगवान्के प्रति बढ़नेकी रुचि उत्पन्न हो तथा २–जिसके सङ्गसे आपमें गीताके १६वें अध्यायमें कही हुई दैवीसम्पदाके छब्बीस गुण आयें, वह आपके लिये 'संत' है ।

साधककी इच्छापर ही व्रजवासकी अखण्डता निर्भर है ।

श्रीराधा-गोविन्दके चरण-कमलोंको न भूलें, यही सावधान रहनेकी बात है । श्रीराधारानीने अत्यन्त दया करके जिन्हें वृन्दावनवास दे दिया है, उनके लिये यह निश्चित है कि जो खुशीसे वृन्दावन छोड़कर नहीं जाना चाहता, उसे वे अपने महलसे कभी बाहर निकालतीं भी नहीं । वे उसे ही बाहर जाने देती हैं, जो स्वयं जाना चाहता है । अतः जबतक कोई जाना नहीं चाहता, तबतक श्रीराधारानी उसे नहीं निकालेंगी—यह परम सत्य है । हाँ, कहीं वह अन्य स्थानका आनन्द लेना चाहने लग जाय तो श्रीराधारानी ऐसी सरल स्वभावकी हैं कि वे किसीकी भी इच्छामें बाधा नहीं देतीं । जहाँ उन्होंने देखा कि वह अन्य स्थान देखना चाहता है, बस, तुरंत वे भी श्रीकृष्णसे कह देंगी—'प्यारे ! इसे वहाँ पहुँचा दो ।' साधककी इच्छापर ही व्रजवासकी अखण्डता निर्भर है । यदि साधक वहाँसे नहीं जाना चाहता, तो निश्चित है कि श्रीराधारानी उसे कभी नहीं निकालेंगी ।

एक कविने गाया है—

काहे कौं रे नाना मत सुनै तूँ पुरानन के,
तैं ही कहा तेरी मूढ़, गूढ़ मति पंग की ।
बेद के बिबादन कौ पावैगो न पार कहूँ,
छाँड़ि देहु आसा सब दान, न्हान गंग की ॥
और सिधि सोधै अब नागर न सिद्ध कछू,
मानि लेहु मेरी कही बार्त्ता सुढंग की ।
जाहु ब्रज, भोरे ! कोरे मन कौं रँगाइ लै रे,
वृंदावन-रैन रची गौर-स्याम रंग की ॥

—जिन्होंने व्रजवास अपना लिया है, उन्हें चाहिये कि व्रजवासका आनन्द लेते हुए जीवनके शेष दिन बिता दें तथा श्रीराधारानीकी कृपाके भरोसे

निश्चिन्त रहें। मनमें निश्चय कर लें कि अन्त समय तो श्रीभानुकिशोरी श्रीकृष्णचन्द्रके साथ मुझे लेने अवश्य पधारेंगी। भला, कोई उनके निवासस्थानपर आकर इतने दिनोंतक बसा रहे और वे एक बार भी दर्शन देने न पधारें—यह भी कभी हो सकता है? 'वे तो आयेंगी ही'—यह दृढ़ विश्वास करके परम उल्लाससे व्रजवासका सुख लूटें। सर्वथा सत्य सिद्धान्त है—यदि हमलोग श्रीभानुकिशोरीकी कृपाके बलपर ऐसी आशा लगाये रहेंगे तो कभी निराशा नहीं होगी। वास्तवमें श्रीभानुकिशोरी कितनी कोमलहृदया हैं, कैसी करुणामयी हैं, इसकी कल्पना ही अभी हमलोगोंको नहीं हुई। यदि कल्पना हो गयी होती तो हमलोग आनन्दसे पागल-जैसे हो गये होते। जो हो, खूब मौजसे व्रजमें बस रहना चाहिये; भले ही घरपर वज्रपात होता रहे, व्रज छोड़कर टस-से-मस न हुआ जाय। बस, निश्चिन्त चित्तसे श्रीराधारानीके धाममें निवास कीजिये। सदा याद रक्खें—भगवान् और भगवान्‌के धाममें किंचित् भी अन्तर नहीं है। श्रीधामके सम्पर्कमें आना सर्वथा श्रीकृष्णके सम्पर्कमें आना है।

उत्साह कभी मत तोड़िये और लेते जाइये श्रीकृष्णका नाम।

जीवनको सर्वथा प्रभुके चरणोंमें समर्पित करके निश्चिन्त हो जाइये। सब चिन्ता छोड़कर प्रियतम श्रीकृष्णकी चिन्ता कीजिये। कुछ भी बदलना नहीं है। वे जहाँ, जिस रूपमें रखना चाहें, वहीं, उसी रूपमें रहिये; केवल मनकी गति बदल दीजिये। इस मनने न जाने कितनी जगह ममत्व कर रक्खा है। इन ममत्वरूपी बिखरे हुए कच्चे धागोंको बटोर लीजिये और उनकी मोटी रस्सी बँट लीजिये तथा उसी रस्सीसे अपने मनको प्रभुके चरणोंमें बाँध दीजिये। इतना ही करना है। भगवान् श्रीराम यही कहते हैं—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥

× × ×

अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

—मनमें बार-बार सोचिये, दृढ़ धारणा कीजिये—'प्रभुकी हमपर बड़ी कृपा है'। यह बात केवल किसीके कहनेसे मान लें, यह नहीं; यह तो वस्तुस्थिति है। प्रभुने अपनी कृपाका द्वार खोल रक्खा है। उन्हींकी कृपाका आश्रय करके उनकी कृपाको अधिक-से-अधिक मात्रामें ग्रहण कीजिये और उनपर न्यौछावर हो जाइये।

सच मानिये, श्रीकृष्णसे अधिक प्यार करनेवाला, निरन्तर आपकी सँभाल करनेवाला आपको कोई नहीं मिलेगा। परम श्रद्धेय श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ने सत्सङ्गमें एक बार एक कथा सुनायी थी—

"'एक योगभ्रष्ट महात्मा कहीं पैदा हुए थे। एक दिन वे धूलिपर खेल रहे थे। राजाकी सवारी निकली। राजाने पूछा—'धूलिसे क्यों खेलते हो?' महात्माने कहा—'धूलिसे शरीर पैदा हुआ, धूलिमें मिल जायगा; इसलिये धूलिसे खेलते हैं।' राजाने कहा—'मेरे साथ चलोगे?' महात्माने कहा—'चल सकता हूँ, पर मेरी चार शर्तें हैं।' राजाने शर्तें पूछीं। महात्माने कहा—'पहली शर्त है—हम खूब सोयें, पर तुम कभी मत सोओ और मेरी सँभाल करो। दूसरी शर्त है—तुम खुद मत खाओ और हमें खूब खिलाओ। तीसरी शर्त है—तुम कोई भी कपड़ा मत पहनो और मुझे पहननेके लिये खूब कपड़ा दो एवं चौथी शर्त है—तुम बराबर मुझे साथ रक्खो।' राजाने कहा—'ये भी कहीं माननेकी शर्तें हैं। आपके सोनेपर सो सकता हूँ; जैसा खाता हूँ, वैसा खिला सकता हूँ; जैसे कपड़े पहनता हूँ, वैसे पहननेको दे सकता हूँ और जब कहीं जाऊँ तो साथ ले चल सकता हूँ। इतनी बातें हो सकती हैं।' महात्माने कहा—'तब तुम्हारे-जैसे दीनके पास जाकर क्या करूँगा। मेरा मालिक ऐसा है कि जो कभी स्वयं तो सोता नहीं, मैं खूब सोता

हूँ और वह बराबर जागते रहकर मेरी सँभाल करता है। स्वयं कुछ भी खाता नहीं और मुझे खिलाता है। स्वयं कपड़े नहीं पहनता और मुझे बढ़िया-बढ़िया कपड़े पहननेको देता है और मेरे साथ ही निरन्तर रहता है, एक क्षणके लिये भी मुझे छोड़कर कहीं भी नहीं जाता।''

ठीक ऐसे ही प्रियतम श्रीकृष्णको छोड़कर इस संसारमें भोगोंके पीछे क्यों भटक रहे हैं? भोग छोड़ दीजिये, यह नहीं कहता; पर भोग भोगिये श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये। देहकी सँभाल कीजिये—पर यह समझकर, भीतरी मनसे यह दृढ़रूपसे मानकर कि देह उनकी ही सम्पत्ति है। उनकी कृपाका आश्रय करके बढ़नेकी चेष्टा कीजियेगा तो कुछ भी असम्भव नहीं है। मनमें दोष भरे हैं, माना; पर यदि आप उत्साह तोड़ेंगे तो ये और भी तंग करेंगे। उनके चरणोंका आश्रय करके दोषोंको निकाल डालिये, एक क्षणके लिये भी निराश मत होइये। हतोत्साह होना क्षीण हुए दोषोंको बल देना है। दोषोंको निकालनेकी चेष्टा करनेपर ये मनमें छिप जाते हैं और जिस क्षण मनुष्य उत्साहभङ्ग करता है, उस समय दोष जोर मारने लगते हैं। इसलिये उत्साह कभी मत तोड़िये और लेते जाइये श्रीकृष्णका नाम!

वर्णाश्रमकी ऐतिहासिकता

[वर्ष ४४, अङ्क १०, पृ० १२७४ से आगे]

(लेखक—डॉ० श्रीनीरजाकान्त चौधरी [देवशर्मा] एम्०ए०, एल्-एल्०बी०, पी-एच्०डी०)

गीताध्यान

'ऊरुभङ्ग' नाटकमें पाया जाता है—

भीष्मद्रोणतटां जयद्रथजलां गान्धारराजह्रदां
कर्णद्रोणकृपोर्मिनक्रमकरां दुर्योधनस्रोतसम्।
तीर्णः शत्रुनदीं शरासिसिकतां येन प्लवेनार्जुनः
शत्रूणां तरणेषु वः स भगवानस्तु प्लवः केशवः॥

यह श्लोक 'गीताध्यान' के 'भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला' इत्यादि श्लोकके अविकल रूपसे अनुरूप है। 'गीताध्यान' का प्रथम श्लोक 'नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे' इत्यादि ब्रह्मपुराणमें (२४५। १९) देखा जाता है। और एक श्लोक 'पाराशर्यवचः सरोजममलम्' इत्यादि भविष्यपुराणमें भी मिलता है।

गीता भासको विदित थी। 'कर्णभार' नाटकका यह बारहवाँ श्लोक—

हतोऽपि लभते स्वर्गं जित्वा तु लभते यशः।
उभे बहुमते लोके नास्ति निष्फलता रणे॥

गीताके 'हतोऽपि प्राप्स्यसि स्वर्गम्' (२। ३७) इस श्लोकका समानार्थक है।

सुतरां, देखा जाता है कि भासके समय गीताका अस्तित्व तो था ही, 'गीताध्यान' भी प्रसिद्ध था। अर्थात् ईसापूर्व पञ्चम शताब्दीमें भी गीता सर्वजनमान्य शास्त्रग्रन्थ था। इसके अतिरिक्त यह भी प्रमाणित होता है कि ब्रह्मपुराण और भविष्यपुराण भासके कालकी अपेक्षा भी अत्यन्त प्राचीन हैं (तिलक-गीतारहस्य ५७—७४ पृष्ठपर द्रष्टव्य)। भास गीतासे सुपरिचित थे, इसमें आश्चर्य-जैसी कोई भी बात नहीं है। कारण, उनके अनेक नाटक ही महाभारतकी कथावस्तुके ऊपर प्रतिष्ठित हैं। किंतु जो कहते हैं कि गीता ईसवी शताब्दीके कालमें महाभारतमें प्रक्षिप्त हुई थी, उनको इस विषयपर पुनः विवेचना करनेके लिये मैं अनुरोध करता हूँ।

८—भारतीय लिपिका प्रमाण

अनेक पाश्चात्त्य विद्वानों (मैक्समूलर प्रभृति) के मतमें भारतमें प्राचीनकालमें वर्णमाला या लेखनकी पद्धति नहीं थी; क्योंकि वेदमन्त्र कण्ठस्थ रखने होते थे, अतएव समस्त शास्त्र या दूसरी विद्याएँ भी पुस्तकाकारमें नहीं थीं, सब मुखस्थ ही रहती थीं। सभी कार्य मौखिकरूपसे ही चलते थे। इस मतमें अनेक दोष हैं, परंतु स्थानाभावके

कारण उनकी आलोचना यहाँ सम्भव नहीं। अवश्य ही भासके नाटकोंसे प्रमाणित होता है कि लिखनेके उपकरण-नियमादिकी मुद्रणयन्त्रके प्रवर्तित होनेके पूर्व समस्त सभ्य जातियोंमें स्वाभाविकरूपसे जैसी भी स्थिति रही हो, भासके युगका भारतवर्ष उसकी अपेक्षा किसी तरह पिछड़ा हुआ नहीं था।

'शाकुन्तल'की भाँति उस कालमें भी अँगूठीपर नाम अङ्कित होता था।

'तेन हि मणाहिकिं नाम एदं अकरवम्' (अवि० २। ५२)।' 'तस्स लेहस्स अवसाणं पेक्खिअ। (तस्य लेखस्यावसानं प्रेक्ष्य)। (नलिनिका—अविमारक ६। ५७)

इसी प्रकार बाणपर रथीका नाम अङ्कित रहता था। (पञ्चरात्र, अभिषेक, दूतघटोत्कच द्रष्टव्य)। पञ्चरात्रमें देखा जाता है कि किसी आधुनिक राज्यके युद्धविभाग (Military Department)से प्रसरित होनेवाले मिलिटरी डिस्पैच अथवा रिपोर्टके समान कविके युगमें भी योद्धाओंके विशिष्ट वीरत्वका वर्णन पुस्तकमें लिपिबद्ध करनेका नियम था।

'दृष्टपरिच्छदानां योधपुरुषाणां कर्माणि पुस्तकमारोपयति कुमारः।'
(भटवाक्य-पञ्च० २। २७)

जिन समस्त योद्धाओंने उत्तर-गोग्रहमें शौर्यप्रदर्शन किया था, उत्तर उनके नाम पुस्तकमें लिपिबद्ध करा रहे थे, इसीलिये विराटकी सभामें उनके लौटकर आनेमें विलम्ब होता है।

इसी प्रकार 'चारुदत्त'में भी पाया जाता है—

'नानापट्टण समागदेहिं आअमिएहिं पुत्तखआ वाइअन्ति।' (नानापत्तनसमागतैरागमिकैः पुस्तकानि वाच्यन्ते।) (विदूषक—चारु० ४। ५)

'प्रतिज्ञा' नाटकमें महामन्त्री यौगन्धरायण उदयनके समीप पत्रवाहक दूतको प्रेषित करनेके लिये कहते हैं—

'स्वर्यतां लेखः प्रतिसरा च' (प्रतिज्ञा० १। ३)

(ईसापूर्व) पञ्चम शताब्दीमें क्यों, उसके बहुत पहलेसे ही वर्णमाला और लेखन-पद्धति भारतमें थी, इसमें किसी संदेहके लिये तिलभर भी स्थान नहीं है। महाभारत भासका बहुत पूर्ववर्ती है, उसमें भी लिखनेका वर्णन मिलता है। महाभारत आज भी पृथ्वीका सर्वाधिक बृहद् ग्रन्थ है। यह मुख-ही-मुखद्वारा रचित होकर भाटोंके कण्ठस्थ हो गयी—ऐसा मत उपहासास्पद ही है। प्रक्षिप्तवादकी परिपुष्टिके उद्देश्यसे ही इन सभी कल्पनाओंकी सृष्टि हुई है। केवल भ्रान्त धारणासे ही इनकी प्रसूति हुई है, यह बात समझमें नहीं आती।

उपसंहार

भास-साहित्यके विषयमें गवेषणाकी बहुत गुंजाइश है। ऊपर केवल किंचित् निदर्शनकी चेष्टा की गयी है। भासने कालिदासके समान कोई महाकाव्य नहीं लिखा, किंतु वे भी भारतके श्रेष्ठ महाकवियोंके बीच वरेण्य और अन्यतम हैं, यह बात निस्संदेह है। उनकी रचनाशैली उनकी अपनी ही है। एक ऋजुता एवं गाम्भीर्य दृढ़रूपसे स्थान-स्थानपर प्रतिस्फुटित हुआ है। दुर्योधन आदिके चरित्र भी उनकी लेखनीके प्रभावसे उदात्तनायकोचित हो उठे हैं। वर्तमानकालमें भासके नाटक केवल संस्कृत-साहित्यमें ही नहीं, विश्वसाहित्यमें सर्वाधिक प्राचीन होनेका दावा रखते हैं। सुतरां, इनका ऐतिहासिक मूल्य अपरिसीम है।

ईसापूर्व पञ्चम शताब्दी एवं उसके पूर्वकालकी जो झाँकी इनसे हम पाते हैं, उससे देखा जाता है कि शास्त्रानुमोदित वर्णाश्रमधर्म उस समय पूर्ण महिमाके साथ भारतमें प्रतिष्ठित था। उस समय देवताओं एवं गो-ब्राह्मणोंमें प्रगाढ़ भक्ति थी। पितृ-मातृ-सेवा पुत्रोंका आदर्श कर्तव्य था। नारियाँ अवगुण्ठन (घूँघट) का व्यवहार करती थीं एवं परपुरुषके साथ वार्तालाप तो दूर रहा, उनकी चर्चातक नहीं करती थीं। भासके नाटकोंमें पातिव्रत्यका उच्च वर्णन पाया जाता है। मध्यम व्यायोगमें हिडिम्बा-चरित्र कविकी एक अनवद्य सृष्टि है। बौद्ध और जैन-प्रभृति उपधर्म उस कालमें भारतमें प्रचलित अवश्य थे, किंतु उनकी मान्यता नहीं थी। सभी प्रकारकी देवमूर्तियों, शिवलिङ्ग-प्रभृतिकी पूजा होती थी, इसका भी प्रमाण उपलब्ध होता है। रामायण, महाभारत, गीता, भागवत, विष्णुपुराण, हरिवंश, ब्रह्मपुराण, भविष्यपुराण-प्रभृति शास्त्रग्रन्थ एवं नाट्यशास्त्र-प्रभृति भासके युगमें वर्तमान थे, इसमें संदेहकी कोई गुंजाइश नहीं हो सकती।

सुखकी गवेषणा

(लेखक—महन्त श्रीतपस्वीन्द्रजी शास्त्री तळेगाँवकर)

'अशान्तस्य कुतः सुखम्—अशान्तको भला सुख कहाँ ?' सुख शान्तिमें है । शान्तिका निवास मनकी प्रसन्नतामें है । मानसिक प्रसन्नता कामनाओंके त्यागसे प्राप्य है । भौतिकवाद सुखकी कामनाका प्रतीक है । आज प्रत्येक भौतिकवादी अधिकतम सुख-साधन जुटानेमें बद्धपरिकर है । प्रत्येक प्राणी सुखका अनुभव इन्द्रियोंद्वारा करता है । इन्द्रियोंका प्रेरक मन है । मन संकल्पात्मक होता है । उसके संकल्प असमाप्य हैं, अतः कठिन परिश्रम करनेपर भी अद्यतन मानव सुखी नहीं हो सकता ।

ययाति राजा था । उसे सभी सुख-साधन उपलब्ध थे । वह इन्द्रियाराम था । वह नानाविध भोगोंका उपभोग करके अपनेको संतृप्त करना चाहता था । उसका प्रयत्न प्रशंसनीय था, पर वह इन्द्रियोंको तृप्त न कर सका । संकल्प नित नये उठते । उन्हें पूरा करते-करते ययाति हार गया । अन्तमें उसने राजा भर्तृहरिके शब्दोंमें अनुभव किया—'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः ।' अर्थात्—'मैं भोगोंको भोगकर सुखी न हो सका, प्रत्युत भोगोंने मेरे शरीरका भोग लगा लिया ।' भोगासक्त लोगोंकी परम्पराके लिये अपना अनुभव व्यक्त करते हुए उसने कहा—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥

अर्थात्—प्रिय भौतिकवादी साथियो ! सांसारिक पदार्थ हमें कभी भी स्थायी सुख नहीं दे सकते । वे स्वयं नश्वर हैं, अतः तज्जन्य सुख भी अनित्य हैं । मनुष्य विचारता है—इच्छित वस्तुका उपभोग करके मैं तृप्तकाम हो जाऊँगा, परंतु उसका यह विचार मिथ्या है । जैसे प्रज्वलित अग्निपर घृत डालनेसे वह और अधिक धधक उठती है, वैसे ही कामनाएँ भोगसे शान्त तो होतीं ही नहीं, उल्टे बढ़ जाती हैं । मेरी यह अनुभवकी बात है कि इस पथका पथिक कदापि सुखी नहीं हो सकता ।

आजकी जनता नीमका पेड़ लगाकर आम खाना चाहती है, जो बिल्कुल असम्भव बात है । यदि हम शान्तिका साम्राज्य चाहते हैं तो हमें यह मार्ग त्यागना होगा । सही रास्ता अपनाकर ही हम सही अर्थोंमें सुखी हो सकते हैं । उस सन्मार्गका निर्देश करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥
(गीता २ । ७१)

अर्थात्—यदि हम सुख-शान्तिके इच्छुक हैं तो हमें इच्छाओंकी पूर्तिका प्रयत्न त्यागना होगा । मनके संकल्प-विकल्पोंको मारना होगा । इन्द्रियोंपर कठोर संयम रखना होगा । सारथि जैसे कुमार्गगामी घोड़ेकी लगामको जोरसे खींचकर उसे सन्मार्गपर चलनेको बाधित करता है, वैसे ही हमें भी प्रयत्न करना होगा । दुनियावी चीजोंकी ममताको त्यागना होगा । अहंकारको नामशेष करना होगा । त्यागी बनकर ही हम सुखी हो सकेंगे, भोगी बनकर नहीं; क्योंकि गीतामें कहा है—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥
(२ । ७०)

अर्थात्—कामना करनेवाला कदापि सुख-शान्तिको नहीं प्राप्त कर सकता । जो उभरती कामनाओंको संयम-द्वारा मिटाना जानता है, वही सुखका अधिकारी है । जैसे सैकड़ों नदियोंके जलके आ मिलनेपर भी समुद्र क्षुब्ध नहीं होता, वैसे ही कामनाओंके प्रादुर्भावसे मानवको क्षुब्ध नहीं होना चाहिये । जैसे गरम लोहेपर पानीकी बूँदें विलीन हो जाती हैं, वैसे ही संयमसे इच्छाओंको विलीन करनेवाला प्रयत्नशील पुरुष ही सुखको प्राप्त कर सकता है, दूसरा नहीं ।

मनोवाञ्छित पदार्थको पाकर इन्द्रियाँ सशक्त हो जाती हैं, उनका संयम करना कष्ट-साध्य हो जाता है । संयमके बिना इन्द्रियाँ प्राणीका घात करती हैं, उसे मोह-गर्तमें ढकेलकर मार डालती हैं; तब पछतावेके सिवा मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता । कहा भी है—

कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्ग-
मीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च ।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते
यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च ॥

अर्थात्—हिरन केवल श्रवणेन्द्रियके कारण मारा जाता है । शब्द श्रवणेन्द्रियका विषय है । उस विषयकी प्राप्तिके लिये हिरन अत्यन्त लालायित रहता है । शिकारी हिरनकी इसी कमजोरीसे लाभ उठाकर मधुर संगीत आदिका निनाद सुनाकर उसे पकड़ लेते हैं या मार डालते हैं । हाथी वनका शक्तिशाली प्राणी है । वह भी स्पर्श-सुखकी कामनासे अपना जीवन समाप्त कर लेता है । यदि त्वक्-इन्द्रियपर उसका संयम हो तो उसे कौन मार सकता है ? फतिंगा रूपकी आसक्तिमें जल मरता है । नेत्रेन्द्रियपर उसका वश नहीं । दीप-ज्वालाकी उज्ज्वलताको देख वह संयम खो बैठता है और अन्तमें रूपकी लोलुपतामें अपनी आहुति दे बैठता है । भौंरा सुगन्धिके लोभमें अपनी इह-लीला समाप्त कर लेता है । घ्राणेन्द्रियको वशमें न रखनेके कारण ही उसका परिणाम भयंकर निकलता है । मछली अगाध जलमें सुरक्षित रहकर भी रसनाके रस-लोभमें फँसकर अपने प्रिय प्राण गँवा बैठती है । एक ही इन्द्रियके वशीभूत होकर जब मृग-गज आदि आत्म-हानि कर बैठते हैं, तब पाँच-पाँच इन्द्रियोंके विषयोंके सेवन करनेवाले मानवका विनाश हो जाय, इसमें क्या आश्चर्य है ।

भौतिकवाद मानवोंको इन्द्रिय तथा मनकी कामनाओंको पूर्ण करनेकी प्रेरणा करता है । उसका कहना है—'प्राणियोंको येनकेनापि प्रकारेण कामनाओंको तृप्त करना चाहिये ।' किंतु आध्यात्मिकवाद कहता है—'नहीं, पर-पीड़न करके निज-सुखकी अभिलाषा करना मूर्खता है, स्वार्थ है ।' जिन इन्द्रिय-सुखोंकी इच्छासे हम दूसरोंके अधिकारका हनन करते हैं, उनका स्वत्व छीनकर उससे स्वयं सुखी बनना चाहते हैं, वे सुख भी तो अनित्य हैं, क्षणिक हैं । क्षणिक सुखके लिये मनुष्यको अत्याचार, अन्याय तथा स्व-शक्तिका दुरुपयोग नहीं करना चाहिये ।

आजकी जनता यदि भौतिकवादको छोड़कर आध्यात्मिकवादके सुसङ्गमें आ जाय, तो ये सभी झंझटें मिट जायँ । न कालाबाजार रहे, न छिपा धन । भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
(गीता २ । ६४)

अर्थात्—मानव-शरीरमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, जिनके रूप, रस, गन्ध, शब्द तथा स्पर्श—ये पाँच विषय हैं । इनके सेवनसे मनुष्यको सुख मिलता है । अतः सुख-प्राप्तिमें उसका अनुराग हो उठता है । अनुरागके कारण वह विवेक खो बैठता है । जब उसे मनचाहे विषयकी प्राप्ति नहीं होती, तब वह अविवेकी बन जाता है । अविवेक आपत्तियोंका आश्रय है । अतः मनुष्यको चाहिये कि वह इन्द्रियोंको अपने वशमें रखनेका उद्यम करे । 'किं दूरं व्यवसायिनाम्—उद्योगीके लिये कुछ भी अप्राप्य नहीं ।' जितेन्द्रिय पुरुष विषयोंका उपभोग करके भी उनके प्रति राग-द्वेषमें नहीं फँसता । वह विदेही जनकके समान संसारमें निर्लेप होकर रहता है ।

एक बार जनकसे एक सेवकने आकर कहा—'नृपवर ! आप जल्दीसे राज-प्रासादसे बाहर निकल आयें । महलको चारों ओरसे आगने लपेट लिया है । विलम्बसे आपका मार्ग अवरुद्ध हो सकता है ।'

जनकने उत्तर दिया—"बन्धुओ ! घबराओ मत । 'मिथिलायां प्रदग्धायां न मे दह्यति किंचन ।' मेरा है क्या, जिसके लिये चिन्ता करूँ, प्रासादकी तो बात ही क्या ! मिथिला अथवा शरीरसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं । ये जलें या रहें ।" यह है अध्यात्मवादकी सच्ची शिक्षा । इसीसे मनुष्य सच्ची सुख-शान्ति पा सकता है ।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—'मनुष्य पहले विषयोंका मनसे चिन्तन करता है । प्रतिदिनके चिन्तनसे मनुष्यके मनमें आसक्ति पैदा हो जाती है । आसक्तिके कारण मनुष्य उसको प्राप्त करनेकी कोशिश करता है । उसकी प्राप्तिके लिये वह आकाश-पाताल एक कर डालता है; किंतु जब उसकी कामना पूरी नहीं होती, तो वह कुपित हो उठता है । क्रोधान्ध होकर वह विवेक-शक्ति खो बैठता है । अविवेकसे स्मरणशक्ति क्षीण हो जाती है । स्मरणशक्तिके अभावमें बुद्धि अपना कार्य ठीकसे नहीं कर सकती । नष्ट-बुद्धि पुरुषका नाश अवश्यम्भावी हो जाता है ।'

एक बार राजा पुरूरवा स्वर्गकी अप्सरा उर्वशीपर मुग्ध हो उठा । उसने भी इनके अलौकिक रूप और गुणोंसे आकृष्ट होकर इनके पास रहना स्वीकार कर लिया । राजा उसके सहवासमें रहकर अपनी कामनाओंको सतृप्त करनेके लिये विषयोंका उपभोग करने लगा । दिन बीतते गये, परंतु राजाका मन न भरा ।

एक दिन अतृप्त राजाको छोड़ उर्वशी चल निकली। कामी राजाने उर्वशीको रोकनेका अतीव प्रयत्न किया। अनेकविध प्रार्थनाएँ कीं; किंतु उर्वशीको रुकना नहीं था, वह न रुकी।

इस चोटसे राजाका प्रसुप्त ज्ञान जाग उठा। उसने कहा—'अहह, मैं कितना मूर्ख हूँ! इस उर्वशीमें रखा ही क्या है? प्रत्येक नर-नारीका शरीर मल-मूत्रसे भरा है, जिसकी दुर्गन्धिके आगे मनुष्य खड़ा भी नहीं रह सकता।'

भौतिक पदार्थोंकी चाहमें मनुष्य अपना सब कुछ गँवा बैठता है। उनकी चकाचौंध तथा बाह्य आडम्बरको देख मनुष्य उनकी ओर खिंचता चला जाता है। आजकल भौतिक वस्तुओंको प्राप्त करनेकी होड़-सी लग गयी है। प्रत्येक प्राणीका यही प्रयत्न है। इस भौतिकवादने जन-जीवनको दुःखमय बना दिया है। आध्यात्मिकवादको तो कोई पूछता ही नहीं। किंतु सच्चे सुखकी उपलब्धि उसके बिना कभी नहीं मिल सकती। दोनोंका सम्बन्ध परस्पर छत्तीस (३६) के अङ्कके समान है। भौतिकवाद तथा आध्यात्मिकवादमें समता आ ही नहीं सकती। दोनोंके मुख दो विरुद्ध दिशाओंकी ओर हैं। अतः सुखकी इच्छा रखनेवालेको अध्यात्मवादको ही अपनाना चाहिये। कामनाओंका संयम और इन्द्रियोंका निग्रह करनेवाला ही सच्ची शान्तिको प्राप्त कर सकता है। कामनाओंके प्रकोपसे भौतिकवादी मनुष्यके मनमें सदा खलबली मची रहती है। वह सुख-चैनकी साँसतक नहीं ले सकता। वह सुख-साधन जुटाते-जुटाते चल बसता है। तभी तो भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

अशान्तस्य कुतः सुखम्॥

उपपुराणोंकी समस्या और श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराण

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

(१)

जैसा कि हम 'कल्याण'के गत तीसरे अङ्कके पृष्ठ-८०३ पर लिख आये हैं, आज उपपुराणोंका एक प्रकारसे सर्वथा लोप-सा ही हो रहा है। 'कल्याण' के विगत विशेषाङ्कमें प्रथम बार मूलसहित 'नरसिंहपुराण' नामक उपपुराणका सानुवाद प्रकाशन हुआ। अतः अब उपपुराणोंके सम्बन्धमें विशेष जानकारीके लिये कुछ पाठकोंके उत्सुकतापूर्ण पत्र आने लग गये हैं। वास्तवमें उपवेदोंके समान ही 'उपपुराण'* नाम भी लघुता या हीनताका द्योतक नहीं है। 'उप'—उपसर्गके पूजा, उपचर्या, प्रतिष्ठा, सेवा, दान, सदृशता, प्रतियत्न आदि अनेक श्रेष्ठ अर्थ भी होते हैं—

उद्योगव्याप्तिपूजासु शक्त्यारम्भदानयोः।
उपासन्नेऽधिके हीने सादृश्यप्रतियत्नयोः॥

(द्रष्टव्य विश्वप्रकाशकोश, पृष्ठ १८९, हेमचन्द्र, मेदिनी, उपसर्गार्थसंग्रहकोश तथा उपसर्गभाष्य, श्लोक १९ इत्यादि)

अतः उपकार, उपचय, उपपन्नता, उपज्ञा, उपासना, उपदेश, उपहार, उपनयन, उपक्रम, सूर्योपस्थान, षोडशोपचार आदिके समान 'उपपुराण'में भी 'उप'का अर्थ 'श्रेष्ठ'ही है, 'हीन' नहीं। (विशेष जानकारीके लिये 'उपासना-अङ्क', पृष्ठ ११५ की टिप्पणी देखनी चाहिये।)

डा० आर० सी० हजरा (R.C. Hazra) पुराणोंके जाने-माने विद्वान् हैं। उन्होंने दो जिल्दोंमें 'Studies in the Upapurāṇas' नामकी पुस्तक लिखी है। उसमें उन्होंने बड़े धड़ल्लेसे उपपुराणोंकी महत्ता प्रतिपादित की है। सी० आर० स्वामिनाथन्ने इस ग्रन्थकी प्रशस्तिमें ठीक ही लिखा है कि उपपुराण भी पुराणोंकी तरह मान्य एवं स्वतन्त्र हैं। अतः प्राचीन परम्परागत रूढ़ि कि 'उपपुराण पुराणोंके परिशिष्टमात्र हैं और उनमें कोई मौलिक विचार नहीं है', इस पुस्तकद्वारा सर्वथा खण्डित हो जाती है—

'The traditional view that the Upapurāṇas are only supplements to the Mahāpurāṇas and have no independent authoritativeness, has been disproved in this book and the more logical theory that they have originated naturally and simultaneously with the growth of diverse sects and worships like the Śākta, Pāśupata, Pāñcharātra and Bhāgavata during or before the early days of the Gupta period has been shown."

* भागवत (१२।७।१०, २०) आदिके अनुसार अल्पपुराण, क्षुल्लकपुराणादि शब्द भी पुराणोंकी दशलक्षणात्मकके सामने पञ्च लक्षणताके ही बोधक हैं, किसी हीन भावनाके नहीं।

स्वयं डॉ० हजराने भी लिखा है कि इन उपपुराणोंसे शाक्त, पाशुपत, पाञ्चरात्र तथा वैष्णव मतोंके विकास-सम्बन्धी ऐतिहासिक तथ्योंकी जानकारीमें सहायता मिलती है; अतः इनका अध्ययन परम आवश्यक है—

"The Upapurāṇas are exclusively adapted to suit the purposes of local cults and the religious needs of different sects,......incidentally, a study of the textual aspects of these Purāṇas with their subsequent accretions and alterations may afford valuable informations about the historical developments of the various sects to which they originally belonged."

(२)

अपनी पुस्तक 'Studies in the Upapurāṇas' के ४–१३ तकके पृष्ठोंमें उन्होंने उपपुराणोंकी २३ भिन्न नामावलियाँ प्रस्तुत की हैं । पर नरसिंहपुराणका नाम सबमें सम्मिलित है । यहाँ केवल वे थोड़े-से उद्धरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं, जो प्रायः डॉ० हजराकी पुस्तकमें नहीं हैं—

इस सम्बन्धमें वामन शिवराम आप्टेने हेमाद्रि (चतुर्वर्ग-चिन्तामणि) के नामसे निम्नलिखित श्लोक लिखे हैं—

आद्यं सनत्कुमारोक्तं नारसिंहमतः परम् ।
तृतीयं नारदं प्रोक्तं कुमारेण तु भाषितम् ॥
चतुर्थं शिवधर्माख्यं साक्षान्नन्दीशभाषितम् ।
दुर्वाससोक्तमाश्चर्यं नारदोक्तमतः परम् ॥
कापिलं मानवं चैव तथैवोशनसेरितम् ।
ब्रह्माण्डं वारुणं चाथ कालिकाह्वयमेव च ॥
माहेश्वरं तथा साम्बं सौरं सर्वार्थसंचयम् ।
पराशरोक्तं प्रवरं[३] तथा भागवतद्वयम् ॥

वास्तवमें (प्रायः) ठीक ये ही श्लोक थोड़े पाठान्तरसे* कूर्मपुराण (रॉयल एसियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, १८९० ई०) की प्रतिमें १ । १ । १७–२० में भी हैं, जो निश्चय ही शुद्धतर हैं । एम० एस० विलियमने अपने प्रसिद्ध संस्कृत-अंग्रेजी कोषके पृष्ठ २०२ पर 'उपपुराण' शब्द-पर निम्नलिखित टिप्पणी दी है—

"A secondary or minor Purāṇa, (Eighteen are enumerated; the following is the list in the Kūrma-Purāṇa, 1–Sanatkumāra, 2–Nārasimha (from Nṛsimha), 3–Bhaṇḍa†, 4–Śiva-Dharma, 5–Daurvāsas, 6–Nāradīya, 7–Kāpila, 8–Vāmana, 9–Auśanas, 10–Brahmāṇḍa, 11–Vāruṇa, 12–Kālikā, 13–Māheśwara, 14–Sāmba, 15–Saura, 16–Pārāśara, 17–Mārīcha and 18–Bhāgavata."

ध्यानसे देखनेपर पता चलता है कि मोनियर विलियम्सकी यह नामावली भी ठीक वही है, जिसे हेमाद्रि तथा आप्टेने लिखा है और जो मूलतः कूर्मपुराण १ । १ । १७–२० में प्राप्त होती है । हाँ, इनमें बहुत थोड़ा पाठभेद अवश्य है, जिसे हम पाठपुष्टतामात्र कह सकते हैं । प्रायः यही नामावली याज्ञवल्क्यस्मृतिके विविध टीकाकार सर्वश्री वीरमिश्र, अपरार्क (या अपरादित्य), बालम्भट्टी-सुबोधिनी-बालक्रीडाकारादि तथा शैव रत्नाकरकारादि (भाग १ पृ० १८) भी उसके भिन्न प्रकरणोंमें देते हैं ।

(२) आनन्दरामायण ८ । ८ । ५२–५७ में यह नामावली इस प्रकार है—

विष्णुधर्मोत्तरं शैवं बृहन्नारदमेव च ।
भगवत्याः पुराणं च लघुनारदमेव च ॥
भविष्यत्पर्वषष्ठं स्यात्तन्त्रं भागवतं तथा ।
अष्टमं नारसिंहं स्यात्पुराणं रेणुकाभिधम् ॥
दशमं तत्त्वसारं स्याद् वायुप्रोक्तं तथैव च ।
नन्दिप्रोक्तं द्वादशं स्यात्तथा पाशुपताभिधम् ॥
यमनारदसंवादैस्तथा हंसपुराणकम् ।
विनायकपुराणं च बृहद्ब्रह्माण्डमेव च ॥
पुण्यं विष्णुरहस्यं स्यादिति ह्यष्टादशानि वै ॥

इसके अनुसार श्रीविष्णुधर्म, शिवपुराण, बृहन्नारदीय, देवीभागवत, लघुनारद, भविष्योत्तर, भागवततन्त्र, नरसिंह-पुराण, रेणुकापुराण, तत्त्वसार, वायुपुराण, नन्दिपुराण, पाशुपतपुराण, हंसपुराण, यमनारदसंवादका कोई पुराण, गणेशपुराण, बृहद्ब्रह्माण्डपुराण तथा श्रीविष्णुरहस्य—ये उपपुराण हैं ।

(३) इसके अतिरिक्त मत्स्यपुराण, बृहद्धर्मपुराण, कालिकापुराण एवं शिवपुराण आदिमें उपपुराणोंकी सूचियाँ प्राप्त होती हैं, जो इससे भिन्न हैं । बृहद्धर्मपुराणमें उपपुराणोंकी निम्नलिखित नामावली निर्दिष्ट है—

---

१. स्कान्दमुद्दिष्टं, २. वामनं, ३. मारीचं तथैव भार्गवाह्वयम् ।

* कूर्मपुराण १ । १ । १—७२०का पाठान्तर—

† Erroneous instead of 'Skanda'.

तथाप्युपपुराणानि कथयामि मुदा शृणु ।
आदावादिपुराणं स्यादादित्याख्यं द्वितीयकम् ।
ततो बृहन्नारदीयं नारदीयं ततः स्मृतम् ॥
नन्दिकेशपुराणं च बृहन्नन्दीश्वरं तथा ।
शास्त्रं क्रियायोगसारं कालिकाह्वयमेव च ॥
ततो धर्मपुराणं च विष्णुधर्मोत्तरं तथा ।
शिवधर्मं विष्णुधर्मं वामनं वारुणं तथा ॥
नारसिंहं भार्गवं च बृहद्धर्मं तथोत्तरम् ।
एतान्युपपुराणानि संख्यावष्टादशैव तु ॥

(बृहद्धर्मपुराण, पू० १६५, १ । २५ । २२-२६)

इसके अनुसार आदिपुराण, आदित्यपुराण, बृहन्नारदीय, नारदपुराण, नन्दीश्वर, बृहन्नन्दिकेश्वर, क्रियायोगसार, कालिकापुराण, धर्मपुराण, विष्णुधर्मोत्तर, शिवधर्म, विष्णुधर्म, वामन, वारुण, नारसिंह, भार्गव, बृहद्धर्म, बृहद्धर्मोत्तर—ये १८ ही—उपपुराण हैं ।

इसके अतिरिक्त बृहद्विवेकग्रन्थमें एक चौथा क्रम भी मिलता है, जो इस प्रकार है:—

आद्यं सनत्कुमारं च नारदीयं बृहच्च यत् । आदित्यं मानवं प्रोक्तं नन्दिकेश्वरमेव च ॥
कौर्मं भागवतं ज्ञेयं वासिष्ठं भार्गवं तथा । मुद्गलं कल्किदेव्यौ च महाभागवतं तथा ॥
बृहद्धर्मं परानन्दं वह्निं पाशुपतं तथा । हरिवंशं ततो ज्ञेयमिदमौपपुराणकम् ॥

इस प्रकार उपपुराणोंके ये चार मुख्य क्रम प्राप्त होते हैं । यहाँ अकारादिक्रमसे तुलनाके लिये ये चारों क्रम उपस्थित किये जा रहे हैं—

कूर्मपुराणादिका क्रम	आनन्दरामायणका क्रम	बृहद्धर्मपुराणका क्रम	बृहद्विवेकका क्रम
उशनापुराण	कालिकापुराण	आदिपुराण	आदित्यपुराण
कपिलपुराण	गणेशपुराण	आदित्यपुराण	कल्किपुराण
कालिकापुराण	तत्त्वसार	कालिकापुराण	कूर्मपुराण
दुर्वासापुराण	नन्दिपुराण	क्रियायोगसार	देवीपुराण
नरसिंहपुराण	नरसिंहपुराण	धर्मपुराण	नन्दिकेश्वरपुराण
नारदपुराण	नारदपुराण (यम-नारद-संवाद)	नन्दिपुराण	परानन्दपुराण
पराशरपुराण	पशुपतिपुराण	नरसिंहपुराण	पाशुपतपुराण
ब्रह्माण्डपुराण	बृहन्नारदीयपुराण	नारदपुराण	बृहद्धर्मपुराण
भागवत या भार्गवपुराण	ब्रह्माण्डपुराण	बृहद्धर्मपुराण	बृहन्नारदीयपुराण
मरीचिपुराण	देवीभागवतपुराण	बृहद्धर्मोत्तरपुराण	भागवतपुराण
मानवपुराण	भविष्योत्तरपुराण	बृहन्नन्दीश्वरपुराण	भार्गवपुराण
माहेश्वरपुराण	रेणुकापुराण	बृहन्नारदीयपुराण	महाभागवतपुराण
वरुणपुराण	लघुनारदपुराण	भार्गवपुराण	मानवपुराण
शिवपुराण	वायुपुराण	वामनपुराण	मुद्गलपुराण
सनत्कुमारपुराण	विष्णुधर्मोत्तरपुराण	वारुणपुराण	वसिष्ठपुराण
साम्बपुराण	विष्णुरहस्य	विष्णुधर्मपुराण	वह्निपुराण
सौरपुराण	शिवपुराण	विष्णुधर्मोत्तरपुराण	सनत्कुमारपुराण
स्कन्दपुराण*	हंसपुराण	शिवधर्मोत्तरपुराण	हरिवंशपुराण

इन चारोंका क्रम परस्पर बहुत कम मिल रहा है । नरसिंहादि बहुत थोड़े से नाम ऐसे हैं, जो सबमें ही प्रायः उपलब्ध हैं । आदित्य, सौर आदि कुछ नाम भिन्न होनेपर भी एकार्थवाची हैं । इस तरह हाजराके अनुसार इनकी संख्या १०० से भी ऊपर पहुँच जाती है । तथापि उनमेंसे अब दो-चारको छोड़ कोई भी प्राप्य नहीं रह गये हैं । कुछ थोड़े-से ऐसे हैं, जो किन्हीं बड़े पुस्तकालयोंमें प्राप्त हो सकेंगे । अब अगले अङ्कमें हम श्रीविष्णुधर्मपर विस्तारसे विचार करेंगे (क्रमशः)

* यहाँ संहितात्मक स्कन्दपुराणसे तात्पर्य है ।

रामलीला-नाटक

(लेखक—पद्मभूषण डॉ० श्रीरामकुमारजी वर्मा)

संत तुलसीदास विश्वकवि हैं। उनके मानसने देशको जो आत्मविश्वास और आत्मसम्मान दिया है, वह संसारके किसी ग्रन्थने नहीं। उनका मानस भारतीय संस्कृतिका आदर्श ग्रन्थ है।

देशमें सर्वत्र मानसचतुश्शती मनायी जा रही है। उनके मानसका प्रचार और प्रसार समस्त संसारमें होना चाहिये। इसी मानसके आधारपर देशभरमें रामलीलाका अभिनय होता है; किंतु यह रामलीला स्थानविशेषके प्रभावोंसे कभी-कभी हास्यास्पद और धर्मके परिहासके रूपमें हो जाती है। विदेशी लोग जब रामलीलामें विभिन्न ढंगका मनमाना अभिनय श्रीराम और सीताके रूपमें देखते हैं तो हमारे धर्म तथा उसके सांस्कृतिक दृष्टिकोणके सम्बन्धमें सही धारणा नहीं बनाते।

इस चतुश्शतीमें कम-से-कम इतना तो हो जाना चाहिये कि सारे देशमें रामलीलाका शुद्ध और पवित्र रूपसे मानकीकरण (Standardization) हो जाय और रामचरित और महाकवि तुलसीदासके रामविषयक अन्य ग्रन्थोंके आधारपर रामलीला-नाटकका एक रूप स्थिर हो जाय। यदि रामलीलाद्वारा जनतामें नैतिकता और धार्मिकताके प्रति आस्था उत्पन्न हो जाय तो हमारा राष्ट्रीय चरित्र जो दिनोंदिन गिर रहा है, वह पुनः सुधारके मार्गपर अग्रसर हो जायगा। अतः यह आवश्यक है कि रामलीला एक संस्थाके रूपमें संगठित हो और केवल विजयादशमीपर ही नहीं, वर्षभर उसका अभिनय हो, जिससे हमारा राष्ट्रीय ग्रन्थ राष्ट्रके जन-जनमें परिव्यास हो जाय। रामलीलाका अभिनय किस प्रकार हो—इसके सम्बन्धमें कुछ सुझाव प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

१—रामलीला खुले रंगमञ्चपर हो, जिससे जनताके अधिक-से-अधिक लोग उसे देख सकें। किंतु आवश्यक यह है कि दर्शकोंके बैठनेकी समुचित व्यवस्था हो, जिससे वे असुविधाके कारण शोर न मचायें। लाउडस्पीकर ऐसे हों कि समस्त जनताको एक हल्के-से-हल्के स्वरमें कही जानेवाली बात सुनायी दे। दर्शकोंके मध्यमें पान-बीड़ी, मूँगफली और दहीबड़े बेचनेवालोंकी आवाजें नहीं होनी चाहिये।

२—मञ्चपर दो परदे हों—एक बाहरी यवनिका और एक भीतरी। उसपर प्रकाशकी—साथ ही रंगीन प्रकाशकी व्यवस्था हो, जिससे विशेष रसात्मक स्थलोंको उपयुक्त रंगीन किरणोंसे प्रभावशाली बनाया जा सके।

३—एक सज्जा-कक्ष हो, जिसमें सजावटकी सारी व्यवस्था, वस्त्रोंकी वेशभूषा आदि हो।

४—रामलीलाका एकमात्र आधार रामचरितमानस और रामकथाविषयक तुलसीदासके ही ग्रन्थ हों। बीचमें किसी प्रकारका या किसी अन्य व्यक्तिका काव्य न हो।

५—रामचरितमानसका अत्यन्त मधुर और प्रभावोत्पादक ढंगसे पाठ करनेवाले चार अथवा कमसे कम दो व्यक्ति हों।

६—मानसपाठ अथवा संगीतके लिये अच्छे और उपयुक्त वाद्ययन्त्र भी हों।

७—जहाँ कथाका वर्णन है, वहाँ उद्घोषक मानसके अंशोंका पाठ करें। जहाँ पात्रोंके बोलने या संवादके प्रसङ्ग हों, उन प्रसङ्गोंको पहले उद्घोषक मानसकी पङ्क्तियोंको स्वरसे गा दें, उसके उपरान्त पात्र उसे गद्य-शैलीमें कहें। यह अनुवाद सरल और सुबोध होना चाहिये। अरबी-फारसीके शब्द न रहें और उच्चारण एकदम शुद्ध हो।

८—पात्र यदि स्वाभाविक वेशविन्यासमें आवे तो अच्छा हो। मुखौटोंका क्रमशः बहिष्कार करना चाहिये। कभी-कभी मुखौटे हास्यास्पद हो जाते हैं। जीवनका और व्यक्तिका यदि स्वाभाविक और व्यावहारिक रूप हो तो अच्छा है।

९—आरम्भमें शङ्ख-ध्वनि हो और विशेष अवसरोंपर पुष्पवर्षा हो, जिससे पवित्रताका भाव हृदयमें जाग्रत् हो।

१०—रामलीलाके समारोहमें जो विविध चौकियाँ नगरमें निकाली जाती हैं, उनमें केवल रामचरितमानसकी कथाके प्रसङ्ग ही इस रूपमें सजाये जायँ कि उनमें रामकथाका क्रमिक विकास लोगोंके सामने स्पष्ट हो सके। प्रत्येक झाँकीके साथ जो भक्तगण और कार्यकर्ता रहें, वे संगीतके साथ उस चौकीसे सम्बन्धित रामचरितमानसके अंशोंका गान करते चलें। प्रत्येक चौकीके साथ शङ्खनाद हो तथा पुष्पवर्षाका भी प्रबन्ध रहे।

श्रीविष्णुप्रिया

[एकाङ्की नाटक]

(रचयिता—लाल श्रीप्रद्युम्नसिंहजी)

प्रथम दृश्य

(नवद्वीपमें एक साफ-सुथरी-सी कोठरी है। एक तख्ता बिछा हुआ है। पुस्तकें इधर-उधर बिखरी हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्ति स्थापित है। एक सुन्दर १६ वर्षकी बाला चिन्तित, नत-मस्तक, उदास, हाथ-पर-हाथ रक्खे बैठी है। उसी समय निमाई—एक सुन्दर नवयुवक चुपके-से प्रवेश करता है। निर्निमेष बालाकी ओर देखता है। कन्या आहट पाकर खड़ी हो जाती है।)

निमाई—प्रिये! आज यह क्या? तुम इतनी चिन्तित? सदैव प्रसन्न रहनेवाली इतनी उदास—व्यथित! प्रफुल्लित चेहरा इतना मुरझाया! क्या बात है? बताओ तो सही। (विष्णुप्रिया कुछ बोलती नहीं। एक बार देखकर सिर नीचा कर लेती है। आँखोंमें आँसू छलक पड़ते हैं।) क्या बात है? बोलती क्यों नहीं? मायके-से कोई दुःखद समाचार मिला है क्या? वहाँसे मैं तो सबको सकुशल देखकर आ रहा हूँ।

विष्णुप्रिया—(सिर नीचा किये हुए) आप मुझसे सब बातें छिपाते हैं। क्यों, क्या यह सच नहीं कि आप गयाधाम जानेवाले हैं? और सुना है कि कल ही जानेवाले हैं।

निमाई—(हँसकर) ठीक है। गयाजी पिताजीको पिण्ड देने जा रहा हूँ। शीघ्र ही लौट आऊँगा। पुत्रका पिताके प्रति भी कुछ कर्तव्य होता है। चिन्ताकी क्या बात है?

विष्णुप्रिया—बात तो छोटी-सी है; किंतु न जानें क्यों दिल भर-भर आता है। बहुत रोकनेपर भी आँसू नहीं रुकते। मैं स्वयं नहीं चाहती कि आपके प्रस्थानके समय कोई अशुभ बातें सोचूँ। पूर्वमें भी तो आप बाहर गये, उसके बाद आपकी लक्ष्मी नहीं रही। कहीं उस घटनाकी पुनरावृत्ति न हो।

निमाई—संयोगको लोग भूलसे कार्य-कारणका रूप देने लगते हैं। यदि ऐसी सम्भावना होती तो इस बार मैं अपनी लक्ष्मीके लिये सब कार्य बंद कर देता। मैं शीघ्र ही गया-धाम होकर तुम्हारे पास आ जाऊँगा। एक लक्ष्मी तो रूठकर चली गयी, दूसरीको नहीं जाने दूँगा। तुम तो लक्ष्मी नहीं, महालक्ष्मी—विष्णुप्रिया भी हो। फिर विद्यार्थियोंको भी तो पढ़ाना है। इस पुनीत कर्तव्यकी तो अवहेलना देर-तक नहीं की जा सकती। (ठुड्डी पकड़कर विष्णुप्रियाका मुख ऊपर उठाते हैं।) प्रिये! धैर्य धारण करो। तुम्हें माँ-को भी धैर्य देना है।

विष्णुप्रिया—(आँसू पोंछते हुए मुस्कुरानेका प्रयत्न करती है। धीरेसे) न जाने जी क्यों इतना सशङ्कित हो रहा है। (अन्यमनस्क होकर) मेरे लिये नहीं तो विद्यार्थियोंके लिये अवश्य शीघ्रता कीजियेगा।

निमाई—(मुस्कुराते हुए) स्त्री अपने बीचमें किसीको नहीं आने देना चाहती। तब भी कोई न कोई बिना बुलाये आ ही जाते हैं।

दूसरा दृश्य

(अर्द्धरात्रिका समय। चारों ओर निस्तब्धता छायी हुई। दो चारपाइयाँ बिछी हैं। एक ओर निमाईका हँसता हुआ चित्र लगा है। एक चारपाई खाली है। एक चारपाईके कोनेमें विष्णुप्रिया बैठी है। चेहरा मुर्झाया है। आँसू बह रहे हैं। निमाईके चित्रकी ओर देखते हुए कभी-कभी आँखें पोंछ लेती है। उसी समय उसकी सास शचीदेवी गम्भीर मुद्रामें प्रवेश करती हैं। उनको देखकर विष्णुप्रिया आँसू पोंछती हुई खड़ी हो जाती है।)

शचीदेवी—पुत्री! तेरा दुःख नहीं देखा जाता। कुमुदिनी चाँदको देखकर प्रफुल्लित हो रही थी। चाँदमें जब पूर्ण ज्योत्स्ना आ रही थी, एकाएक राहुने उसे ढक लिया, जिससे कुमुदिनीने मुर्झाना प्रारम्भ कर दिया। यह दुःख देखा नहीं जाता। बेटी! इस तरहसे कबतक इस दुःखको झेलेगी? निमाईको कुछ कहती क्यों नहीं?

विष्णुप्रिया—आपका दुःख क्या किसीसे कम है ? जब आप ही, जिन्होंने उनको जन्म दिया, पाल-पोसकर इतना बड़ा किया, उन्हें नहीं सँभाल सकतीं, तब मेरा क्या वश है ? मैं तो सब प्रयत्न करके हार गयी ।

शचीदेवी—आखिर इस समय यहाँ न होकर मेरा निमाई है कहाँ ? क्या आज भी वह पूजा-कक्षमें चला गया ?

विष्णुप्रिया—हाँ, माँ ! वे तो जिस दिन गयाधाममे लौटे, उस दिनसे सदैव रातको भोजन कर लेनेपर कुछ देर मेरे पास बैठनेके पश्चात् कोई-न-कोई बहाना बनाकर मुरली-मनोहरकी मूर्तिके पास जाकर बैठ जाते हैं ।

शचीदेवी—चलो, आज दोनों वहीं चलें। देखें, क्या करते हैं ? वहीं चलकर अपने लोगोंके प्रति भी जो उसका उत्तरदायित्व है, उसे जाग्रत् करनेका हम दोनों संयुक्त प्रयत्न करें । क्या मनुष्य ईश्वर एवं घरके प्रति अपने कर्तव्यका निर्वाह एक साथ नहीं कर सकता ?

विष्णुप्रिया—जैसी माताजीकी आज्ञा ! किंतु जब आप उन्हें रास्तेमें नहीं ला सकतीं, तब मेरे साथ रहनेसे क्या लाभ होगा ?

शचीदेवी—ठीक है । अकेले प्रयत्न करके हार चुकी हूँ । आज देखें, संयुक्त प्रयासका क्या प्रतिफल होता है ?

(दोनों चुपकेसे पूजाकक्षमें जाती हैं । भगवान् श्रीकृष्ण एवं राधाकी मूर्ति एक कमरेमें विराजमान है । कृष्णके एक हाथमें बाँसुरी है । राधाका एक हाथ नृत्यकी मुद्रामें उठा है । सामने निमाई ध्यान लगाये बैठे हैं । कभी खिलखिलाकर हँसते हैं, कभी फूट-फूटकर रोते हैं । कभी ऊँचे स्वरसे भगवान्‌को पुकारने लगते हैं, कभी सुमधुर स्वरमें भगवान्‌का कीर्तन करने लगते हैं । यह स्थिति देखकर शचीदेवी और विष्णु-प्रिया स्तब्ध रह जाती हैं । कुछ देर बाद दोनों आँसू रोकनेपर भी नहीं रोक पातीं, सिसकने लगती हैं । विष्णुप्रिया हाथ दबाती है । निमाई खड़े हो जाते हैं । माँको देखकर विस्मयसे)

निमाई—माँ ! तुम यहाँ—इस समय (विष्णुप्रियाको देखकर धीरेसे) पुत्रवधूके साथ !

शचीदेवी—निमाई ! निमाई !! (गला भर आता है) तुम्हें क्या हो गया ? गया जानेके पूर्व तुम हँसते थे, बोलते थे, खेलते थे—सब कार्य करते थे, विद्यार्थियोंको पढ़ाते थे, नियमित पाठशाला जाते थे । अब तुम्हें क्या हो गया है ? दवा-दारू की, पूजा-पाठ कराया । तुम भूले-से, भटके-से, सब कुछ देखते हुए भी कुछ नहीं देखते हुए प्रतीत होते हो । चित्त ठिकाने नहीं रहता । क्या बात है ? कितने बार समझा चुकी । घर-गृहस्थीका कार्य कैसे चलेगा ?

निमाई—माँ ! मैं स्वयं नहीं जानता कि मुझे क्या हो गया है । गयाधाममें विष्णुपादका दर्शन किया । पंडोंने बताया कि यह वह स्थान है, जहाँ भगवान्‌के चरणोंसे गङ्गा निकली हैं, जो संसारका मूलाधार है । उसी समय मैं संज्ञाहीन हो गया । संज्ञा वापस आनेपर संसार मुझे नये रूपमें दीखने लगा । सर्वत्र श्रीकृष्ण, उनकी मुरलीकी मनोहर ध्वनि, उन्हींके बीचमें राधा अभिन्न रूपमें दीखने लगीं । क्या करूँ ?

शचीदेवी—भगवान्‌के साथ क्या उनकी माया—संसारको नहीं देख सकते ? मुझे, माँ (पुत्रवधूकी ओर संकेत करते हुए) को, पाठशाला, यहाँके विद्यार्थी, घर-गृहस्थीके कार्यको नहीं देख सकते, जो सब आँखोंसे स्पष्ट दिखायी देते हैं ! तुम्हीं बताओ, मैंने अपनी आठ कन्याओंको एकके बाद एक काल-कवलित होते देखा । तुम्हारा भाई विश्वरूप तुम्हारी अवस्थाका होकर एक दिन हम सबको त्यागकर चला गया । तुम्हारे पिता भी नहीं रहे । केवल तुम और तुम्हारी यह बहू बची है । बुढ़ापेके, जीवनके अवलम्ब तुम भी क्या हमें त्याग देना चाहते हो ? दोनों किसके सहारे, कैसे जीवित रहें ? बताओ न ! बताओ (आँखोंमें आँसू छलछला आते हैं) ।

निमाई—(गम्भीर स्वरमें) आँखें नहीं देखतीं । सब नहीं देख सकतीं । नहीं तो संसारमें अपना और पराया न रह जाता । सब एक हो जाते । माँ ! तुम जो कुछ कहती हो, सब ठीक ही कहती हो । संसारके लोग सब संसारको ही देखते हैं । उसके ऊपर, नीचे, बीचमें क्या है—यह नहीं देखते । सम्भव है, यह देख भी नहीं सकते और देखकर देखना नहीं चाहते । माँ ! तुम तो इतना दुःख सह सकी हो कि मुझे विश्वास होता है, संसारके सुखके लिये, संसारकी विषय-ज्वाला शान्त करनेके लिये अपनी सुख-शान्तिका शीतल जल उड़ेलकर उसे शान्त करोगी । यही क्या कम है कि आठ

कन्याओंके काल-कवलित होनेपर विश्वरूप तुम्हें अपना रूप दिखाकर विश्वरूपमें मिल गया। अभीतक मैं तुम्हारे पास हूँ। मेरे बाद तुम्हारी यह (विष्णुप्रियाकी ओर संकेत करते हुए) तुम्हारा सहारा बनकर रहेगी।

शचीदेवी—बेटा ! ऐसी अशुभ बात मुँहसे न निकालो। माँके लिये पुत्र और पत्नीके लिये पति ही सब कुछ है। अच्छा, मैं चलूँ, (पुत्रवधूकी ओर संकेत करते हुए) तुम भी प्रयत्न कर लो।

विष्णुप्रिया—(चलनेको तत्पर होते हुए) जब आप ही सफल नहीं होती हैं, जिन्होंने जन्म दिया, पाला-पोसा, तब मैं क्या कर सकती हूँ ?

शचीदेवी—नहीं बेटी ! मनुष्यके जीवनमें सबका अपना-अपना स्थान होता है। प्रयत्न करके देख लो।

(प्रस्थान करती हैं)

विष्णुप्रिया—कैसा परिवर्तन है गयाजी जानेके पूर्व और वहाँसे लौटनेके पश्चात् ! कितना अच्छा होता कि मैं भी आपकी लक्ष्मीकी तरह भाग्यवान् होती और आपके आनेके पूर्व वियोगकी ज्वालामें ही जलकर भस्म हो जाती। प्रभो ! क्या हो गया है ? बताइये, कैसे जीवित रहूँ ? जलेपर नमक लगानेकी बात सुनी है कि आप सब छोड़कर संन्यासी हो रहे हैं।

निमाई—(कुछ मुस्कुरानेका प्रयत्न करते हुए) गयाजी जानेपर यह सचमुच हुआ है कि मैं वह नहीं रह गया हूँ। वहाँ इच्छा हुई कि मैं विश्वरूपकी तरह तुम सबसे सदाके लिये नाता तोड़कर अदृश्य हो जाऊँ; किंतु यहाँका तुम सबका आकर्षण मुझे खींच लाया, अब भी खींच रहा है। पता नहीं इस संघर्षका क्या अन्त होगा ! मुझे तुम दोनोंके प्रति कर्त्तव्यका भान है, किंतु नियति मुझे तुम सबके परे—दूर उठाना चाहती है। माँ और तुमको मैं कैसे भूल सकता हूँ ?

विष्णुप्रिया—मैं तो केवल इतना ही जानती हूँ कि जिस दिनसे होश सँभाला, आपको देखा। अनायास एक लताकी भाँति ऊपर उठनेके लिये, जीवित रहनेके लिये आपकी ओर खिंचती रही। आपमें मैं महान् वृक्ष पाकर उसके चारों ओर लिपट गयी, उसके जीवनमें घुलमिल गयी। अब आप मुझे समूल नष्ट करनेको अपना सहारा उठा रहे हैं। कैसा न्याय है !

निमाई—प्रिये ! मैं सब कुछ जानकर भी अनजान बन रहा हूँ। मुझे चारों ओर भगवान् श्रीकृष्णकी माधुरी मूरत दिखलायी पड़ती है, मुरलीकी ध्वनि सुनायी पड़ती है। साथ ही चारों ओर मूर्खता और स्वार्थका अन्धकार देखता हूँ, जिसमें कोई हिंदू बना हुआ है, कोई मुसलमान है, कोई किसीको अछूत, किसीको काफिर और किसीको म्लेच्छ समझता है। मेरी समझमें नहीं आता कि ये ब्रह्मको, खुदाको माननेवाले ऐसी भूलें क्यों करते हैं। मुझे वेदना होती है। एक पुकार उठती है—सबको राह बताओ, सबको प्रेम और भक्तिके सूत्रमें बाँध दो।

विष्णुप्रिया—यह सब कार्य आप घरमें रहकर भी कर सकते हैं।

निमाई—(कुछ सोचकर) प्रयत्न करूँगा। चलो, विलम्ब हुआ; सोनेके कक्षमें चलें (टोकरीसे फूलमाला निकालते हुए फिर कंधेपर हाथ रखकर) चलो, चलें। (दोनों प्रस्थान कर शयन-गृहमें प्रवेश करते हैं।)

(बड़े प्रेमसे विष्णुप्रियाको माला पहिनाते हैं, जूड़ेमें फूल खोंसते हैं, बड़े प्रेमसे विष्णुप्रियाका चिबुक उठाते हैं………………विष्णुप्रियाका मुँह लज्जासे लाल हो जाता है।)

विष्णुप्रिया—(धीरेसे) ईश्वर ऐसा प्रेम और सुख स्थायी रखे।

निमाई—(मुस्कुराते हुए) वर्तमानको देखो, भविष्यकी चिन्ता मत करो। रात अधिक हो गयी है, सो जाओ।

विष्णुप्रिया—यही रात आपके लिये भी है। आप विश्राम करें। जो बहुत दिनोंसे अपूर्ण थी, वह साध आज पूरी करूँगी। आपके पैर पलोटूँगी।

(धीरे-धीरे पैर दबाने लगती है। निमाई निद्रामग्न हो जाते हैं। कुछ समयतक विष्णुप्रिया बड़े प्रेमसे निमाईके मुखकी ओर देखती है, धीरेसे चुम्बन लेती है, फिर निमाईके पैरके पास सो जाती है। कुछ समय बाद निमाईकी नींद खुलती है। प्रियाको सोते देखकर धीरे-धीरे उठते हैं।)

निमाई—(स्वगत) अब समय आ गया है। अभी या

कभी भी नहीं। स्त्री और माता—सबको छोड़ना होगा। अपना सब कुछ छोड़कर सबको सब कुछ देना होगा। बुद्धने सब कुछ छोड़ा था, लोगोंको त्याग और तपस्या सिखानेके लिये, जन्म, मरण, जरासे बचानेके लिये। हमें सबको प्रेमका पाठ पढ़ाना है—जन्म, मरण, जराके बीच। सब मनुष्योंको एक ईश्वरकी संतान होनेके नाते उसके प्रेममें पागना है। व्यष्टि-समष्टिको प्रेम एवं ईश्वरके नाम-कीर्तन और स्मरणके आधारपर एक करना है। (विष्णुप्रियाका चुम्बन लेनेको झुकते हैं। फिर सजग होकर) सांसारिक सुखोंसे होनेवाली तृप्तिमें अतृप्ति भरी रहती है; इन्हें छोड़ना पड़ेगा। सब छोड़ना पड़ेगा। (कक्षमें जलते हुए दीपकको देखकर) मुझे तो इस दीपककी भाँति जलते हुए सबको प्रकाश देना है। (प्रस्थान करते हैं। कुछ समय पश्चात् विष्णुप्रिया उठती है। निमाईको न पाकर 'माँ! माँ!' चिल्लाती है और रोना प्रारम्भ करती है।)

विष्णुप्रिया—(माँको देखकर) माँ! सबको छोड़कर चले गये।

शचीदेवी—निमाई! निमाई!! (संज्ञाहीन होकर गिर पड़ती है—विष्णुप्रिया भी संज्ञाहीन हो जाती है—लोग दौड़कर आते हैं और हवा करने लगते हैं।)

तीसरा दृश्य

(विष्णुप्रिया पूजागृहमें बैठी-बैठी आँसू बहा रही है। सामने राधाकृष्णकी मूर्ति विराजमान है। संध्याका समय है, सूर्यदेव अस्त हो रहे हैं। उसी समय विष्णुप्रियाकी सखी कञ्चना आती है।)

कञ्चना—विष्णुप्रिया! संध्या हो रही है। तुम अकेली रो रही हो; धीरज धरो। जब माँ शान्तिपुरसे निमाईजीको बुलानेके लिये अन्य सब नवद्वीपवासियोंके साथ गयी हैं तो वे अवश्य वापस आयँगे।

विष्णुप्रिया—कञ्चना! सोचो तो, मैं कितनी पापिनी हूँ कि मेरे प्राणेश्वर अपने प्रिय शिष्य नित्यानन्दको, अपनी माँ और समस्त नवद्वीपवासियोंको अपने नये जीवनकी सूचना दें—बुलायें, किंतु मेरे लिये यह आज्ञा हो कि केवल मैं उनके दर्शनके लिये भी न जा सकूँ और इतनेपर भी तुम कहती हो कि मैं न रोऊँ और जीवित रहूँ। आँसू ही मुझे जीवित रख रहे हैं। मन और हृदय अपनी दुःख-ज्वालाको आँसूके रूपमें निकाल रहे हैं और विरहकी तपन उनको सुखाकर मुझे दुःखमें डूब मरनेसे बचा रही है।

कञ्चना—स्वामीने सोचा होगा कि तुम जो उनको कुञ्चित केशोंमें मुस्कुराते, सुन्दर रेशमी वस्त्रोंसे सज्जित, फूल-माला धारण किये हुए देखती थीं, नये रूपमें दण्ड-कमण्डलु एवं कोपीनसे सज्जित न देख सको या देखकर दुखी हो। सम्भव है, इसलिये उन्होंने तुम्हें न बुलाया हो। संन्यासियोंके भी नियम होते हैं। उनका भी तो पालन उन्हें करना चाहिये।

विष्णुप्रिया—कञ्चना! धन्य हो! क्या तुम समझती हो कि मैं केवल पापिनी ही नहीं, कुटिला भी हूँ, जो पतिको केवल सुवेशमें ही देख सकती हूँ, कुवेशमें नहीं?

कञ्चना—राम! राम!! मैंने तो यह नहीं कहा!

विष्णुप्रिया—क्यों? यदि कोई पति अपनी पत्नीको रुग्णावस्थामें सेवा-हेतु इसलिये न आने दे कि वह उसके साथ स्वस्थ-अवस्थामें रह चुकी है—रुग्णावस्थामें न रह सकेगी, तो ऐसी स्त्रीको संसार क्या कहेगा?

कञ्चना—मैं तो केवल इतना ही जानती हूँ कि निमाई तुम्हें जितना प्यार करते थे, उतना प्यार किसी पतिने अपनी पत्नीको नहीं दिया।

विष्णुप्रिया—(सकुचा जाती है) प्यार करते थे, यह हो सकता है; किंतु वही स्मृति तो अब दुःखको और बढ़ाती है। अब तो ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने संसारको अभयदान देनेके लिये ही दण्ड धारण किया है, किंतु मुझे दुनियासे अलग करके निकाल बाहर किया है—कमण्डलु धारण किया है मेरे दुःखको सींचनेके लिये, जिससे जगत्‌को शान्ति और सुख मिले! क्या जगत्‌के दुःख और अभाव मेरे कारण थे कि सब उनसे मिल सकते हैं, मैं नहीं? मुझे दूधमें पड़ी मक्खीकी तरह फेंककर सबको अपना लिया! यह कैसा प्यार! पूर्वका भाग्य वर्तमान अभावको और तीव्र बनाता है।

कञ्चना—सखी! तुम्हारी बातें सुनकर मैं भी अधीर हो रही हूँ। जबतक श्वास, तबतक आस! आज कई दिन हो गये। माँजी एवं पुरवासी निमाईजीके साथ वापस आते होंगे। उनके आते ही तुम्हारे समस्त दुःख दूर हो जायँगे। (नेपथ्यमें—'चैतन्य महाप्रभुकी जय!', 'शची माँकी जय' की ध्वनि सुनायी पड़ती है।) देखो! मैंने कहा था न कि वे शीघ्र ही माँके साथ आते होंगे।

(शचीदेवी गम्भीर मुद्रामें प्रवेश करती हैं)

शचीदेवी—(विष्णुप्रियाको प्रेमसे गले लगाकर) निमाई—मेरा निमाई मिल गया।

विष्णुप्रिया—(व्यग्रताके साथ) आप क्या अकेली ही चली आयीं ?

शचीदेवी—(उदास) नहीं बेटी, समस्त पुरवासी भी लौट आये हैं। (आँखोंमें आँसू छलक आते हैं।) किंतु निमाई नहीं आया।

कञ्चना—आप सभीको वचन देकर गयी थीं कि आप उन्हें अपने साथ लिवा लायेंगी।

शचीदेवी—वचन अवश्य दिया था, किंतु वह अब निमाई नहीं रहा। न तो वे कुञ्चित केश, न वह हँसी और न वह रेशमी कुर्ता, दुपट्टा और धोती ही रही है। उनका स्थान ग्रहण कर लिया है केशरहित, गम्भीर, कौपीनधारी एक संन्यासीने। निमाई हो गया है अब चैतन्य, जिसे उस दशामें देखकर मैं अचेत हो गयी। मूर्च्छा टूटनेपर मैंने देखा कि उसका नया जन्म हो गया है, जिसमें वह सबका सब कुछ होते हुए भी किसीका कोई नहीं है। वह ज्योतिर्मय हो गया है। उसे देखकर मैं भूल गयी कि वह मेरा पुत्र था। वचन याद कर आग्रह किया तो अन्तमें गम्भीर मुद्रामें उसने कहा—'माँ! इस शरीरने तुझसे जन्म पाया है। जो कुछ भी मैं हूँ या होऊँगा, उस सबका आदि श्रेय केवल तुझे ही है, जिसका मैं सदैव ऋणी रहूँगा। जो तू कहेगी, वही करूँगा। आज्ञा दे।' मैं अवाक् रह गयी। भारतीय माँ होकर पुत्रको पथभ्रष्ट होनेके लिये कैसे कह सकती थी! मुँहसे यही निकला—'पुत्र! सन्मार्ग छोड़नेके लिये तुम्हें मैं नहीं कह सकती। नया बाना तेरी इच्छा पूर्ण करे।' पुत्री! सब दोष मेरा है। मुझे जितना उलाहना दो, थोड़ा है।

विष्णुप्रिया—(कुछ सोचते हुए, धीरेसे) भारतीय माँ यदि पुत्रको पथभ्रष्ट नहीं देख सकती तो पत्नी होकर मैं कैसे विपरीत आचरणके लिये कहूँ ? किंतु ⋯⋯ पतिके बिना कैसे प्राण रखूँ !

(अचेत होकर गिर पड़ती है)

चतुर्थ दृश्य

(विष्णुप्रिया कृशित देह, सफेद वस्त्र पहिने बैठी है। माथेपर सिंदूर लगा है। सामने चैतन्यका चित्र नृत्यकी मुद्रामें लगा है। पार्श्वमें श्रीकृष्ण एवं राधाकी मूर्ति है।)

विष्णुप्रिया—(स्वगत) कितने वर्ष बीत गये! सब लोग जाते हैं, दर्शन कर आते हैं। मुझे जानेकी आज्ञा नहीं। दुनिया उनकी है, किंतु मैं नहीं। जैसे मैं दुनियाके बाहर हूँ—मैं, जो उनके सबसे समीप थी, अब उनसे दूर—बहुत दूर हूँ। उनकी सर्वस्व होते हुए भी उनकी अब कोई नहीं। दिनके पश्चात् सप्ताह, मास, वर्ष बीतते चले जा रहे हैं। उनका यश दिन-दूना, रात-चौगुना बढ़ता जा रहा है। पूर्वकी सुखद स्मृतियाँ वर्तमानके दुःखको गाढ़ा करती हैं। ग्रीष्मके दिनोंमें उनको देखकर तपन बुझती थी, सुन्दर माथेपर श्रमबिन्दु देखकर शीतलता होती थी। अब शरद् ऋतुकी शीतलतामें वियोगकी तपन झुलसाती-सी प्रतीत होती है। वर्षाकालमें जब बादल गरजते थे, बिजली चमकती थी—मैं घबराकर उन्हें पकड़ लेती थी और धैर्य देनेके लिये वे मुझे गले लगा लेते। अब बादल गरजते हैं, बिजली चमकती है; किंतु वह ध्वनि और प्रकाश जैसे मेरे अभाग्यकी घोषणा एवं अन्धकारमें मेरी दुर्दशाको दुनियाके समक्ष उजागर कर देना चाहते हों। शरद्, हेमन्त और शिशिर तब और अबके! उस समय उनको समीप पाकर हम दोनों एक हो जाते थे, अब विरहमें एक-दूसरेसे कितने दूर! वसन्त! 'वसन्त' नाम लेते समय एक टीस उठती है। (कञ्चना धीरे-से दबे पाँव सुन्दर आभूषणोंसे भरा एक थाल लिये आती है और निस्तब्ध होकर विष्णुप्रियाका कथन सुनने लगती है।) जब पशु-पक्षी, वृक्ष-लताएँ आह्लादित होते हैं—सब वृक्ष फूलोंसे लद जाते हैं, उस समय मेरे मन—हृदय-कमलपर तुषार पड़ता है—वह मुरझा जाता है। हे ईश! क्या तुमने मुझे सुख दिया था—केवल दुःख बढ़ानेके लिये ? प्राण दिया था—जीवित मृत्यु दिखलानेके लिये ? मेरे दुःखके बोझको और भी असहनीय बनानेके लिये ! माँको छोड़ गये हैं, जो ग्रीष्म-शरद्-वर्षाकालमें दरवाजा खोलकर बैठती हैं—अपने पुत्रकी प्रतीक्षामें कि उन्हें कष्ट न हो। उनके मनका भोजन बनाकर प्रतीक्षामें बैठती हैं। जब मैं उनसे भोजनके लिये आग्रह करती हूँ तो वे कहती हैं कि 'उन्होंने अभी खाया नहीं, मैं कैसे खा लूँ ?' वर्ष-पर-वर्ष बीतते जा रहे हैं; किंतु उन्हें विश्वास नहीं होता कि उनका पुत्र गृह त्यागकर चला गया है। क्या उनके वियोगका दारुण दुःख मुझे मारनेके लिये पर्याप्त नहीं था कि वे माँका भी दुःख देखनेके लिये मुझे छोड़

गये हैं; जिससे अपना असहनीय दुःख दबाकर वेदनामयी माँको सँभालूँ ! (आवेशमें, कुछ अस्फुट शब्दोंमें) देखती हूँ, तुम मुझे कैसे छोड़ते हो ! मुझे निर्बल समझ गृह-मन्दिर त्यागकर भाग गये (आँखें मूँदती हुई); किंतु देखूँ, तुम मेरे मन और हृदय-मन्दिरको छोड़कर कैसे भाग सकते हो ! (कञ्चनाके सिसकनेकी ध्वनि सुनकर) सखी ! तुम यहाँ कैसे ! रोती क्यों हो ?

कञ्चना–मैं बड़ी देरसे यहाँ खड़ी देख रही थी। मैं तुम्हारा सुख-स्वप्न भङ्ग करना नहीं चाहती थी, किंतु तुम्हारे मुखरूपी प्रभातके शरद्-चन्द्रकी क्षीणता न देख सकी। बहुत प्रयत्न करनेपर भी आँसू न रोक सकी और न सिसकना।

विष्णुप्रिया–सुख-स्वप्न न कहो। वे केवल निद्रित अवस्थामें ही आ सकते हैं। किंतु ईश्वरसे वह भी नहीं देखा जाता, वे नींद भी नहीं आने देते। यहाँ तो, दिन-रात दुःखमय वियोगकी विरह-ज्वालामें सुलगती रहती हूँ। इस थालमें क्या है ?

कञ्चना–क्षमा करना। प्रभुको जो वस्त्र-आभूषण राजा प्रतापरुद्रने भेंट किये थे, उन्हें प्रभुने यहाँ दामोदरपण्डित-द्वारा भिजवाया है। वे बाहर खड़े हैं।

विष्णुप्रिया–(कौतूहलपूर्वक) देखें, क्या है ? ...... कञ्चना ! (थाल नीचे रख एक-एक करके आभूषण तथा और सामान देखती हैं। उद्विग्नतासे) यह तो प्रभु स्वयं आ गये हैं—स्वयं विरक्त होकर मुझे रागी बनाने हेतु। (घड़ेसे पानी निकालकर मुँह धोती है, कंघी करती है, आभूषण धारण करती है। सुहाग-बिंदी लगाती है, फिर उन्मत्त होकर निमाईके चित्रके समक्ष नाचने-गाने लगती है।)

प्रियतम-रूप लुभानी अँखियाँ।
जाग्रत ही ननु सन्मुख देखें,
सोवत सपन सजा गईं रतियाँ॥ प्रियतम०॥
गौर बरन ज्यों कंचन राजै,
माथे चंदन-बंदन साजै,
आँख लजाएँ कमलकी कलियाँ॥ प्रियतम०॥
त्याग दई जनु दूधमें माखी,
किंचितहूँ नहिं करुना राखी,
मन बृंदाबन-कृष्णमय गलियाँ॥ प्रियतम०॥

कञ्चना–क्या रूप ! क्या मधुर कल-कण्ठ है ! कहीं यह कोयलकी वाणी तो नहीं ! नाच ! मयूरनीका नाच ! दामोदर-पण्डित प्रभुके पाससे आये हैं; क्या उनसे कुछ पूछना चाहोगी ?

विष्णुप्रिया–जब प्रभुने मुझे त्याग दिया, तब फिर मैं उनकी कौन हूँ ? (कुछ सोचकर) नहीं, नहीं ! उन्होंने मुझे त्यागा है, मैंने नहीं। अवश्य बुलाओ, शीघ्र बुलाओ। उनको देखनेपर कुछ सान्त्वना मिलेगी। (कञ्चनाकी ओर देखकर) सखी ! सम्भव है, मैं न बोल सकूँ तो हमारी ओरसे सब पूछ-ताछ कर लेना। किंतु ठहर ! इन वस्त्रोंमें तो उन्माद था। ऐसा प्रतीत होता था कि प्रभु इन वस्त्रोंके रूपमें स्वयं आये हों; अब वे छोड़कर—त्यागकर पुनः चले गये। मैं अपने पूर्वरूपमें आती हूँ। (शयन-कक्षमें जाकर, भूषण उतारकर, पुरानी सफेद धोती पहिने वापस आती है।)

कञ्चना–(हँसकर) जब वे यहाँ थे, तब तो यह अधिकार नहीं दिया। अब, जब संन्यासी हो गये, तब सब अधिकार दे रही हो !

विष्णुप्रिया–(लजाकर) अब तो वे संन्यासी होकर सबके हो गये। बिना अधिकारके भी पूछ सकती हो।

(कञ्चना 'दामोदर चाचा', 'दामोदर चाचा' कहकर पुकारती है। दामोदर-पण्डित गम्भीर मुद्रामें सिर नीचा किये हुए आते हैं।)

दामोदर–(विष्णुप्रियाको) माँ ! प्रणाम।

(विष्णुप्रिया सिर झुका लेती हैं और उनकी आँखोंसे अविरल अश्रुपात होने लगता है। बोलनेका प्रयत्न करती हैं, किंतु बोल नहीं पातीं।)

कञ्चना–चाचाजी ! बतलाइये, जिस दिन प्रभुने हम सबको छोड़ा, उस दिनसे वे कैसे और कहाँ रहते हैं ? संन्यासी होनेके एक सप्ताह पश्चात् प्रभुकी सूचनापर माँ और पुरवासी प्रभुके पास गये थे, उसके बाद उनका कोई समाचार नहीं मिला।

दामोदर–(थोड़ेमें) केशव भारतीके आश्रममें संन्यास लेनेके पश्चात् वे नमाईसे बदलकर 'चैतन्य' और 'गौराङ्ग महाप्रभु'के नामसे विख्यात हो गये हैं। उन्होंने सिर मुँड़ा लिया है। भगवाँ वेश धारण कर लिया है। कोपीन, मिट्टीका करपात्र और दण्ड तथा कम्बल ही उनकी सम्पत्ति है। दिनमें एक बार जो कुछ मिल जाता है, पा लेते हैं। दिन-रात भगवन्नाम लेते हुए आँखोंसे आँसू बहाते रहते हैं। (विष्णुप्रिया, जो अबतक सिसकियाँ ले रही थीं, अब रोना प्रारम्भ कर देती हैं।)

कञ्चना–बहिन ! रोना तो अब हमें जीवनभर है। इस

समय तो चाचाजीसे उनके बारेमें जाननेका अवसर मिला है, अतः उसका कुछ उपयोग कर लो।

(विष्णुप्रिया कुछ शान्त होती हैं)

दामोदर–(विष्णुप्रियाकी ओर संकेत करते हुए) देवी ही शक्तिके आधारपर तो निमाई गौराङ्ग महाप्रभु हो गये। सूर्यकी भाँति उनका यश चतुर्दिक् फैल रहा है। समस्त भारतका वे भ्रमण कर चुके हैं। चोर-डाकू, ब्राह्मण-शूद्र, मुसल्मान—सब एक हो रहे हैं। बीजको उगने और फलनेके लिये नष्ट होना पड़ता है; किंतु उसके लिये भी पृथ्वी और पानीकी आवश्यकता पड़ती है, तत्स्थानीया आप हैं। शिवके लिये जैसे गौरी, रामके लिये सीता और विष्णुके लिये लक्ष्मी हैं, वैसे ही महाप्रभुके लिये आप हैं।

विष्णुप्रिया–(कुछ उत्तेजनासे) पुरुषोंको बातें बनाना खूब आता है। क्या राम, शिव, विष्णुने किसीको त्यागा था ? सबको साथ रखा था। किंतु यहाँ तो मुझे सबके साथ दर्शनार्थ जाना भी मना है। पतितोंका उद्धार करते हैं, सबको भक्ति एवं प्रेममें एक करते हैं। क्या मेरे लिये केवल इसलिये कि मैं उनकी सब कुछ थी, दूसरा नियम बना लिया है ? क्या मेरी बलि देकर ही संसारको सुख और शान्ति दी जा सकती है ?

दामोदर–माँजी ! क्षमा करें। वर्तमान कलिकालके घोर अन्धकारमें प्रकाश और प्रगति केवल त्याग और तपस्यासे ही हो सकती है, जिसके आप दोनों दाहिने और बायें हाथ-पैर हैं, रथके दो पहिये हैं। महान् लोगोंके चरित्रपर लोग क्या टिप्पणी कर सकते हैं ? भगवान् श्रीकृष्णने राधाको वृन्दावनसे मथुरा पहुँचनेके बाद याद नहीं किया ? किंतु तब भी राधा कृष्णमयी बनी रहीं एवं कृष्ण राधामय बने रहे।

कञ्चना–ठीक कहते हैं। यदि राधा कृष्णमयी थीं तो हमारी सखी निमाईमय अवश्य हो गयी है। केवल उन्हींका ध्यान और पूजा करती रहती है। किंतु क्या राधाको विरहकी ज्वालासे बचानेके उद्देश्यसे ज्ञानयोग सिखानेके लिये कृष्णने उद्धवको राधाकी याद करके नहीं भेजा था ?

दामोदर–अच्छी याद दिलायी। मैं तो यहाँका विषादमय वातावरण देखकर सुखद संदेश सुनाना भूल ही गया था—प्रभु स्वयं जगन्नाथधामसे वृन्दावन जाते समय यहाँ शीघ्र ही आनेवाले हैं।

[नेपथ्यसे] ('गौराङ्ग महाप्रभुकी जय', 'चैतन्य महाप्रभुकी जय' का घोष; 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे' एवं 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे' का मधुर कीर्तन)

कञ्चना–चलो, चलो; दर्शन कर लें।

दामोदर–प्रभु आ रहे हैं। घोष सरोवरके समीप सुनायी पड़ रहा है। चलो, दर्शन कर मन शान्त करें।

विष्णुप्रिया–(कुछ सोचकर) ठीक कहते हैं। हाँ, चलो, चलें। बुद्ध आये थे, तब यशोधरा राहुलको देकर ऋणमुक्त हो गयी थी; किंतु मेरे पास देनेके लिये है ही क्या ! चलो, चलें।

(तीनों प्रस्थान करते हैं। मार्गमें 'श्रीकृष्ण, राधाकृष्ण' गाते हुए, कौपीन धारण किये, कमण्डलु लिये, खड़ाऊँ पहिने चैतन्य महाप्रभु दिखलायी पड़ते हैं। पीछे-पीछे अपार जनसमूह 'चैतन्य महाप्रभुकी जय', 'गौराङ्ग महाप्रभुकी जय' कहता हुआ आ रहा है। विष्णुप्रिया उन्मादिनीकी भाँति दौड़कर चैतन्यके पैरोंपर गिर पड़ती हैं। चैतन्य स्तब्ध-से रुक जाते हैं।)

चैतन्य–तुम कौन ?

विष्णुप्रिया—(आवेशमें उठकर हाथ जोड़कर बैठ जाती है) हे नाथ, मैं कौन ? संसारके उद्धारका बीड़ा उठाकर, मुझ अभागिनको, जिसे केवल आपका सहारा था, भूल गये !

चैतन्य–(अन्यमनस्क होकर—धीमे स्वरमें) हाँ, हाँ, पहचान गया। विष्णुप्रिया ! तुम तो विष्णुप्रिया हो। तुम्हें किस वस्तुकी आवश्यकता हो सकती है। जिनकी तुम प्रिया हो, उन्हींका प्रिय बननेके लिये तो मैं प्रयत्न कर रहा हूँ।

विष्णुप्रिया–नाथ ! मैं कुछ नहीं जानती। केवल अपने प्राणको जानती हूँ। आपके लिये जीती हूँ, आपके लिये मरूँगी। ध्यानमें भी आप ही दिखलायी देते हैं। मुझ अबलाको कुछ तो अवलम्ब दीजिये, जिसका आधार पाकर मैं जी सकूँ।

चैतन्य–संन्यासीके पास देनेके लिये है ही क्या ! (खड़ाऊँ उतार देते हैं)—वनवासी राम भी भरतको यही

दे सके थे । (विष्णुप्रिया प्रणाम करके खड़ाऊँ उठाकर माथेसे लगा लेती हैं ।)

विष्णुप्रिया–भरतजीको तो केवल १४वर्षका सहारा चाहिये था; किंतु मुझे तो जीवनभरका अवलम्ब चाहिये ।

(जन-समूह देवी 'विष्णुप्रियाकी जय'का घोष करता है । चैतन्य नंगे पैर 'राधा-कृष्ण' कीर्तन करते आगे बढ़ जाते हैं । विष्णुप्रिया अश्रु बहाती, स्तब्ध, एकटक देखती रह जाती हैं । धीरे-धीरे जयघोषका स्वर क्षीण होता जाता है ।)

जीवन—एक दृष्टि

[रचयिता—श्रीभगवानशरणजी भारद्वाज 'प्रदीप' एम० ए० (संस्कृत-हिंदी)]

(१)

नहीं यह भोग या भवरोगका आगार है जीवन ।
नहीं साधुत्वका पाखण्डमय आचार है जीवन ॥
न जीवन सेज सुमनोंकी सरस मकरन्दमय मादक,
प्रखर असिधार है, बलिदानका व्यापार है जीवन ॥

(२)

घृणा, ईर्ष्या, कलहका तो नहीं भण्डार है जीवन ।
नहीं विद्वेष, छल, मात्सर्यका आगार है जीवन ॥
न जीवन कामनाओंका मदिर आख्यान है, साथी !
परम करुणेश जगदाधारका उपहार है जीवन ॥

(३)

तपस्या, त्याग, संयमकी धधकती आग है जीवन ।
सुहृदता, प्रेम, मुदिताका मधुरतम फाग है जीवन ॥
निरर्थक है न यह, इसमें भरे हैं दिव्य गुण सारे,
दनुजतापर मनुजताकी विजयका राग है जीवन ॥

(४)

प्रबल अज्ञान-तममें पुण्य पावक-गान है जीवन ।
प्रलय-पलमें सृजनकी बाँसुरीकी तान है जीवन ॥
मनुज दुर्दैव-चक्रव्यूहमें फँस हार क्यों माने ?
सफलता, सिद्धि औ' सामर्थ्यका आह्वान है जीवन ॥

(५)

जगज्जननी उमाकी मोहनी मुस्कान है जीवन ।
महेश्वरका महामङ्गल-भरा वरदान है जीवन ॥
सनातन ज्ञानकी गङ्गा, चिरंतन कर्मकी गीता,
जगत्पतिसे प्रणय-संधानका सोपान है जीवन ॥

परमार्थ-पत्रावली

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पुराने पत्र)

(१)

सादर हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला । प्रभु तो मनुष्यमात्रको ही नहीं, जीवमात्रको अपना मानते हैं; उन्होंने अपनी ओरसे कभी, किसीसे सम्बन्ध तोड़ा नहीं है । इस प्राणीने स्वयं ही अपने उन नित्यसम्बन्धीसे विमुख होकर इस संसारसे सम्बन्ध जोड़ लिया है । अतः वह प्रभुके सम्मुख होकर, उनपर दृढ़ विश्वास करके, जब चाहे उनका हो सकता है । इसमें कोई कठिनाई नहीं है ।

मोह-पाश अपना ही बनाया हुआ है, कहीं बाहरसे नहीं आया है । अतः वास्तवमें उसको तोड़ना कठिन नहीं है । साधकको कभी निराश नहीं होना चाहिये । प्रभुकी महती कृपासे जो विवेक हमें प्राप्त है, उससे अपना जीवन सर्वथा पवित्र बना लेना चाहिये ।

प्रबल इच्छा होनेपर भी यदि सत्सङ्गके लिये यहाँ आनेका संयोग न हो तो उसमें भी प्रभुकी कृपाका अनुभव करते हुए, वहीं पुस्तकोंद्वारा सत्सङ्ग करके, प्रभुमें मन लगाना चाहिये । प्रभुमें प्रेम हो जाना ही असली 'सत्सङ्ग' है ।

आपकी यदि सर्वोपरि चाह यह है कि संसारकी किसी भी परिस्थितिमें क्लेशका अनुभव न हो तो हरेक परिस्थितिको साधन-सामग्री मानकर उसका सदुपयोग करते रहिये । वह भी किसी सुख-भोगके लिये या दुःखके भयसे नहीं, एकमात्र प्रभुकी प्रसन्नताके लिये ही हो ।

सदा-सर्वदा यह भाव बनाये रखना कि 'मैं प्रभुका हूँ तथा मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और यह शरीर तथा समस्त प्राणि-पदार्थ आदि जो कुछ भी प्राप्त है, सब प्रभुका ही है, इसमें मेरा कुछ नहीं है; मेरे तो एकमात्र प्रभु हैं'—बहुत ही उत्तम है । इन भावोंको सुरक्षित रखते हुए जो कुछ करें, भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही करें । ऐसा करनेसे शीघ्र ही प्रभुका प्रेम प्राप्त हो सकता है ।

व्यवहारकालमें अड़चन तभीतक आती है, जबतक साधकका यह विश्वास दृढ़ नहीं होता कि 'मैं प्रभुका हूँ, एक प्रभुके अतिरिक्त और कोई भी मेरा नहीं है' । यह भाव दृढ़ हो जानेपर जब साधक किसीसे भी किसी भी प्रकारके सुखकी आशा नहीं रखता, सर्वथा सबसे निराश हो जाता है, तब वह जिन-जिन भगवत्सम्बन्धी भावोंको चाहता है, वे बिना किसी कठिनाईके अपने-आप प्रभु-कृपासे उसमें आ जाते हैं ।

किसी प्रकारके सुख-भोगमें रमण न करना ही साधनमें प्रगतिका सरल उपाय है । शान्तिजनित सुख सात्त्विक है, किंतु वह भी रुकावट डालनेवाला है (गीता १४ । ६ देखें) । अतः साधकको शान्तिके सुखमें भी रमण नहीं करना चाहिये । सुखका उपभोग करना, उसका न रहना और पुनः उसकी लालसा होना—यह साधनमें उन्नति करनेवाला नहीं है । जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसमें न तो रमण करे और न उससे नीचे उतरे, किंतु आगेके रसकी लालसा बढ़ती रहे—इसीका नाम उन्नति है ।

(२)

सादर हरिस्मरण । पत्र आपका मिला । भगवान्‌का अनन्य प्रेम उन करुणा-वरुणालयकी अहैतुकी कृपाका ही फल हो सकता है, यह निःसंदेह सत्य है । आपका यह अनुभव सराहनीय है ।

श्रीघनश्यामका स्वभाव ही रीझना है। ये तो प्रेमके भूखे हैं; जहाँ भी कुछ सम्भावना होती है, वहीं रीझ जाते हैं।

शुद्ध प्रेम अवश्य ही एक दिव्य अलौकिक शक्ति है। प्रभुकी अहैतुकी कृपा सभी प्राणियोंपर है, उसकी वर्षा निरन्तर हो रही है। जो उसपर विश्वास करके उसके आश्रित हो जाते हैं, वे सब प्रकारसे निहाल हो जाते हैं—इसमें जरा भी संदेह नहीं है।

प्रभु शरण देनेके लिये अपना हाथ पसारे रहते हैं; पर कोई उनके सहारेकी आवश्यकता ही न माने, अपने ही बलके अभिमानमें डूबा रहे, तो प्रभु क्या करें?

वास्तवमें परमात्मा अलभ्य नहीं है, उसको प्राप्त करनेकी इच्छाकी जागृति ही अलभ्य हो रही है। उसे प्राप्त करनेकी आवश्यकता यदि अन्य सब प्रकारकी इच्छाओंको नष्ट कर दे तो परमात्मरूप अलभ्य वस्तु तो मिली हुई ही है; क्योंकि वह अलभ्य वस्तु सर्वत्र है, सदा है। उससे साधककी किसी प्रकारकी भी दूरी नहीं है।

वे दयालु भगवान् वास्तवमें कठोर हो नहीं सकते। उन्होंने कठोरता सीखी ही नहीं है। फिर भी साधकको जो कठोरता-सी प्रतीत होती है, उसे भी वे बुरी नहीं समझते, क्योंकि यह भी मिलनकी लालसाको बढ़ानेवाली ही है। साधकके जीवनमें निराशाको स्थान नहीं मिलना चाहिये तथा किसी प्रकारके रसका उपभोग नहीं होना चाहिये। पूर्णरसास्वादनकी लालसा नित्य नयी बढ़ती रहनी चाहिये। यह लालसा ही उसका अस्तित्व हो जाय। यही जीवन है, ऐसा अनुभव होने लगे।

प्रेमकी बातें सुननेका अवकाश तो प्रेमीको ही होता है, जो प्रेमका तत्त्वज्ञ है। दूसरा कोई न मिले तो वह प्रेमियोंका सरदार परमात्मा तो सुननेके लिये लालायित है ही, उसे ही सुनाते रहना चाहिये।

प्रभु अकिंचन-प्रेमी, पतित-पावन और भक्तवत्सल हैं—इस दृढ़ विश्वासके साथ अपनेको उनके समर्पित कर देना, उन्हींपर सर्वतोभावेन निर्भर हो जाना, उनकी इच्छा पूर्ण होनेमें ही सुखका अनुभव करना—यही अन्तिम और परम पुरुषार्थ है।

जीवका नित्यसखा प्रभु सदैव जीवको अपनाये हुए है। इस जीवने उसकी ओरसे मुँह फेर रखा है। बस, इधरसे उधर मुँह फेरना है; फिर विलम्ब नहीं।

(३)

सादर हरिस्मरण। आपका कार्ड मिला। उत्तर इस प्रकार है—

आसरा तो परम सुहृद् प्रभुका ही लेना चाहिये; मैं तो एक साधारण मनुष्य हूँ, मुझमें किसीको आश्रय देनेकी सामर्थ्य नहीं है।

आप यदि समझते हैं कि आपमें काम-क्रोधादि सब अवगुण भरे हुए हैं और यह भी समझते हैं कि इनको रखना नहीं है, इनमें सुख और शान्ति नहीं है, तो फिर अपने विवेकका अनादर करके इनमें क्यों फँस रहे हैं। अपने विवेकका आदर करके समझके अनुरूप जीवन बनानेसे ही शान्ति मिल सकती है, उसके बिना नहीं।

आपको दुनियाकी ओर नजर डालनेकी क्या आवश्यकता है, जब कि आप अपनेको साधक बनाना चाहते हैं तथा परमशान्तिस्वरूप प्रभुको प्राप्त करना चाहते हैं?

दुनिया क्या करती है—इसे देखना, दूसरोंकी आलोचना करना साधन नहीं है; यह तो साधनमें महाविघ्न है।

निष्काम कर्मयोग तो कामनारहित होनेपर अपने-आप होता है । उसके लिये कर्मफलके रूपमें मिलनेवाली सभी वस्तुओं, व्यक्तियों और परिस्थितियोंकी आशाका त्याग करना, किसीसे भी किसी प्रकारके सुखकी आशा न करना ही साधन है ।

ढोंग भी तभी आता है, जब मनुष्य उससे मिलनेवाले मान-बड़ाईके सुखको चाहता है । उस चाहको छोड़ देनेपर ढोंगका समूल नाश हो जाता है ।

मनुष्यको बेकार तो किसी समय भी नहीं रहना चाहिये । हर समय भगवत्कृपासे प्राप्त योग्यता, सामर्थ्य और सामग्रीका यथावश्यक विवेकपूर्वक सदुपयोग करते रहना चाहिये ।

अपने मनकी बात दूसरोंसे पूरी करानेकी आशा न करके अपने कर्तव्य-पालनद्वारा दूसरोंके मनकी धर्मयुक्त बात पूरी करते रहना चाहिये । इन्द्रियों और मनकी बातका आदर न करके विवेकका आदर करना चाहिये । उसीके अनुरूप अपना जीवन बनाना चाहिये ।

शान्ति तो आपके अंदर ही है । वह बाहर खोजनेपर कहीं नहीं मिल सकती । परम सुहृद् प्रभुपर दृढ़ विश्वास करके उनके हो जायँ । उनके सिवा संसारमें किसीको अपना न समझें तो शान्ति आपकी खुशामद करेगी, आपको शान्तिके पीछे दौड़ना नहीं पड़ेगा ।

अकेलापन

(लेखिका—श्रीमती सरोज गोयनका)

शाम हो चली थी । घरमें सूनेपनका राज्य था । घरके सभी मेहमान आज जा चुके थे । बच्चे भी बाहर चले गये थे । शान्ति इतनी थी कि मन अकबका-सा गया था । चुपचाप पड़े-पड़े अनोखा-सा अकेलापन महसूस कर रही थी ।

सोचने लगी कि 'अकेलापन मनुष्यको अखरता क्यों है ! क्यों मनुष्य साथ चाहता है—साथ खोजता है ? क्यों दुकेला बनना चाहता है !'

वैसे तो मनुष्य संसारमें आता-जाता अकेला ही है, किसीका भी साथ नहीं मिलता । पर जबतक संसारमें मनुष्य विचरता है, तबतक साथी बनाता है—जीवन-साथी, दोस्त, बच्चे, माँ, बहन— न जाने किन-किन नातोंसे साथ जोड़ता है ।

सच पूछो तो यह साथ कितने दिनका ! सब ही तो छूट जाता है—सब ही तो खो जाता है । वास्तवमें कोई उसका अपना नहीं होता । मनुष्य भूलसे समझ बैठता है—'यह साथ ही मेरा सब कुछ है—मेरा प्राण है ।' कुछ दिनोंमें ही उसे आभास हो जाता है, वह चला गया—उसका साथ छूट गया—मेरा वह नहीं था । अगर उसका था तो उससे बिछुड़ा क्यों ? दूसरा खोजता है, उसे भी खोता है—इसी प्रकारसे चक्र चलता रहता है ।

अकेला मनुष्य अपनेको तथा दूसरे भी उसे अभागा—बदनसीब समझते हैं । क्या वास्तवमें हम सभी अभागे या बदनसीब नहीं हैं ? हम सभी तो अकेले हैं ।

विचारधारा रुकती नहीं—चल रही थी । क्या हम सबका अकेलापन महसूस करना स्वाभाविक नहीं ? क्या हम सब अकेले नहीं ?

हम क्या हैं ? क्यों अकेले हैं ? क्या हम सब उस परम परमात्माके अंश नहीं हैं ? क्या हम उससे बिछुड़े हुए नहीं हैं ? न जाने कबसे उसके साथसे छूटे पड़े हैं । हम अपने अंशको भुला बैठे हैं । तभी यहाँ-वहाँ खोजते-फिरते हैं—उस अंशको, जिससे मिलकर 'एक' हो जायँ; उसकी पहचान भूल बैठे हैं । अगर पहचानमें आ जाय तो हम फिर साथ-ही-साथ हैं । वह 'एक' अकेला अपनेमें ही सब है । उस निराले 'एक' को पहचानना ही साथ है । वही तो सभी नातोंसे अलग नाता है—वही हमारा साथी है । बाकी तो अज्ञानके भर हैं—खोज हैं—भटकन है ।

धीरे-धीरे 'अकेलापन' अच्छा लगने लगा। थोड़ी देरके लिये मैंने अपनेको 'उससे' जोड़ जो दिया था, अपने सच्चे साथीकी खोज जो कर ली थी।

मैं पलंगसे उठी। सामने ही गोपालकी मूर्ति रखी थी। अपने-आप ही शब्द निकल गये—'प्रभो! मुझे अकेला ही बनाये रक्खो, मुझे अभागी—बदनसीब ही रहने दो; क्योंकि तुम मुझे अकेलेपनमें ही मिले हो और मिलते रहोगे।' चुपचाप मस्तक झुक गया, जैसे मुझे सब कुछ मिल गया हो।

अस्पृश्यता पाखण्ड नहीं, दूसरोंके प्रति घृणा नहीं

(लेखक—पं० श्रीनरनारायणजी आसोपा, एम्०ए०, साहित्यालंकार)

दाधीच समाज बंबईके आग्रहपर मुझे महर्षि दधीचि-जयन्ती-समारोहके अवसरपर सितम्बर १९६६में बंबई जानेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। इन्हीं दिनों मैं पूना गया और उस समय एक सजातीय बन्धुने, जो वहाँ सी० आई० डी० विभागमें इन्सपेक्टर थे, बतलाया कि सरकारने कुछ समय पूर्व चार कुत्ते ऐसे मँगवाये हैं, जो चोरीका और चोरका पता लगानेमें अत्यन्त सहायक सिद्ध हुए हैं।

उन्होंने मुझे अनेक चित्र दिखाये, जिनमें यह प्रदर्शित किया गया था कि हजारोंकी संख्यामें एकत्रित हुए जनसमूहमें ये कुत्ते व्यक्तियोंको सूँघते-सूँघते जब चोरी करनेवाले व्यक्तिके पास पहुँचते हैं, तब चटसे उसके हाथको अपने मुँहसे जोरसे पकड़ लेते हैं।

जनसमूहमें इस प्रकार पकड़े गये व्यक्तियोंके चित्र देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ और मुझसे उन्हें कौतूहलवश अनेक प्रश्न पूछे बिना न रहा गया।

मैंने पूछा—'ये कुत्ते किस प्रकार चोरका पता लगा लेते हैं?' उत्तर मिला—'घ्राण शक्तिसे'। जिस स्थानपर चोरी होती है, वहाँ कुत्तेको ले जाया जाता है और वह उस स्थानकी वस्तुको (तिजोरी, संदूक आदिको) सूँघता है और फिर वहाँसे रवाना हो जाता है। जिधरसे चोर गया होता है, उसी मार्गका अनुसरण करता है और चोरका अपनी घ्राण-शक्तिसे पता लगा लेता है और चटसे उसे (हाथ या किसी अङ्ग आदिमें) जोरसे पकड़ लेता है। इसपर उसके पीछे जानेवाले आरक्षी उस व्यक्तिको गिरफ्तार कर लेते हैं। इस प्रकार पकड़े गये व्यक्ति शत-प्रतिशत चोरी करनेवाले ही निकले हैं।'

फिर मुझे उन चार कुत्तोंके रखनेके स्थान बतलाये गये। वे कुत्ते जुदी-जुदी कोठरियोंमें थे। मुझे बतलाया गया कि उनके भोजन करानेके पात्र (प्लेट आदि) जुदे-जुदे रखे जाते हैं। पानी पिलानेके पात्र भी जुदे हैं। यहाँतक ही नहीं, उनके नहलानेकी साबुन टिकिया भी जुदी, पोछनेके लिये टोवेल भी जुदे थे।

मेरे पूछनेपर कि 'यह सब क्यों?' मुझे उत्तर मिला कि 'इनको रखनेके लिये विशेष हिदायतें प्राप्त हुई कि इन्हें एक-दूसरेका स्पर्श न करने दिया जाय, जुदी-जुदी कोठरियोंमें रखा जाय।'

इन्हें भोजन शामिल न दिया जाय। जुदे-जुदे पात्रोंमें दिया जाय। यहाँतक कि माँज लेनेके बाद भी पात्रको दूसरेके प्रयोगमें न लाया जाय। नहलानेके साबुन, तौलिये आदि भी जुदे-जुदे रक्खे जायँ।

यदि ऐसा न किया जायगा तो इनकी घ्राण-शक्ति नष्ट हो जायगी और ये बाजारमें घूमनेवाले कुत्तों जैसे हो जायँगे।

बात साधारण-सी मालूम होती है; किंतु गहराईसे विचार करनेपर पता चलता है कि अस्पृश्यताकी महत्ता कितनी है।

यदि विशेष शक्ति, ज्ञान, विवेक, संयमिततको सुरक्षित रखना है, तो अस्पृश्यताके नियमोंका पालन करना होगा।

अस्पृश्यता पाखण्ड नहीं, दूसरोंके प्रति घृणा लेश मात्र भी नहीं, केवल अपनी विशेष शक्तिकी सुरक्षाके लिये आत्मसंयमनार्थ प्रतिबन्धोंको लगाये रखना है।

गांधी-जीवन-सूत्र

[प्रान जाहुँ बरु बचनु न जाई]

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

चंद टरै, सूरज टरै, टरै जगत व्यवहार।
पै दृढ़व्रत हरिचंद को टरै न सत्य विचार॥

राजा हरिश्चन्द्रकी कहानी किसे नहीं मालूम ? ऊपर दिये हुए दोहेमें ग्रथित आदर्श उनके जीवनका सूत्र था।

गांधीने भी इसे अपना जीवन-सूत्र बना लिया था।

हुआ यह कि गांधी उस समय दस-बारह बरसका बच्चा था। राजकोटमें पढ़ता था। आजकलके लड़के तो स्कूलकी किताबें कम पढ़ते हैं, बाहरकी फालतू किताबें और पत्र-पत्रिकाएँ ही ज्यादा पढ़ते हैं। पर गांधी था सीधा-सादा, शरमीला लड़का। स्कूलकी घंटी बजते ही स्कूल पहुँचता और छुट्टीकी घंटी बजते ही घर भागता। घरपर भी स्कूलकी ही किताबें पढ़ता और सबक तैयार करता। दूसरी चीजें पढ़नेका न तो उसे कोई शौक था, न फुर्सत थी।

फिर भी पिताजीकी खरीदी एक पुस्तकपर उसकी दृष्टि पड़ ही गयी। पुस्तकका नाम था—'श्रवण-पितृभक्ति नाटक'। गांधीने उसे देखा तो बड़े चावसे उसे पढ़ गया।

उन्हीं दिनों शीशेमें तस्वीर दिखलानेवाले लोग घर-घर घूमते थे। उनसे गांधीने श्रवणकुमारका वह चित्र भी देख लिया, जिसमें वह अपने माता-पिताको काँवरमें बैठाकर यात्रापर ले जाता है।

अपनी 'आत्मकथा'में गांधी लिखता है—'दोनों चीजोंका मुझपर गहरा असर पड़ा। मनमें इच्छा होती कि मुझे भी श्रवणके समान बनना चाहिये। श्रवणकी मृत्युपर उसके माता-पिताका विलाप मुझे आज भी याद है। उस ललित छंदको मैंने बाजेपर बजाना भी सीख लिया था।'

यह तो हुआ गांधीपर एक संस्कार। पिता और माताकी सेवाका जो अद्भुत आदर्श उसने उपस्थित किया, उसकी तहमें यह अङ्कुर भी था ही।

गांधीके जीवनको प्रभावित करनेवाला बचपनका दूसरा प्रसङ्ग है—हरिश्चन्द्र नाटक।

गांधी लिखता है—

"इन्हीं दिनों कोई नाटक-कम्पनी आयी थी और उसका नाटक देखनेकी इजाजत मुझे मिली थी। हरिश्चन्द्रका आख्यान था। उस नाटकको देखते हुए मैं थकता ही न था। उसे बार-बार देखनेकी इच्छा होती थी; लेकिन यों बार-बार जाने कौन देता ? पर अपने मनमें मैंने उस नाटकको सैकड़ों बार देखा होगा। मुझे हरिश्चन्द्रके सपने आते। 'हरिश्चन्द्रकी तरह सत्यवादी सब क्यों नहीं होते ?' यह धुन बनी रहती। हरिश्चन्द्रपर जैसी विपत्तियाँ पड़ीं, वैसी विपत्तियोंको भोगना और सत्यका पालन करना ही वास्तविक सत्य है। मैंने मान लिया था कि नाटकमें जैसी लिखी हैं, वैसी ही विपत्तियाँ हरिश्चन्द्रपर पड़ी होंगी। हरिश्चन्द्रके दुःख देखकर, उनका स्मरण करके मैं खूब रोया हूँ। आज मेरी बुद्धि समझती है कि हरिश्चन्द्र कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं था। फिर भी मेरे विचारमें हरिश्चन्द्र और श्रवण आज भी जीवित हैं। मैं मानता हूँ कि आज भी उन नाटकोंको पढ़ूँ, तो मेरी आँखोंसे आँसू बह निकलेंगे।"

विश्वामित्रको सारा राज्य दान करनेके बाद उसे दक्षिणासे सिक्त करनेके लिये राजा हरिश्चन्द्र तीन लोकसे न्यारी काशीमें डोमके हाथ बिके थे। उनकी रानी शैब्याको एक ब्राह्मणने खरीदकर दासी बना लिया था। बेटे रोहिताश्वको जब सर्पने डँस लिया और उसके दाह-संस्कारके लिये शैब्या श्मशान-घाटपर पहुँची, तब वहाँ तैनात हरिश्चन्द्र बिना कर लिये जलाने नहीं दे रहे थे। उस समय शैब्याने अपनी आधी साड़ी फाड़कर दी थी। ये सब घटनाएँ किसे नहीं रुलातीं। न रहे हों हरिश्चन्द्र कोई ऐतिहासिक राजा, पर सत्यव्रतके पालनके लिये उनके अपार कष्ट सहनेकी यह कहानी पत्थरको भी द्रवित करनेकी क्षमता रखती है। फिर गांधी उस समय १०–१२ सालका भोला-भाला बालक ही था। उसके जीवनपर हरिश्चन्द्रके इस आख्यानद्वारा सत्यकी जो गहरी छाप पड़ी, वह जीवनके अन्ततक कायम रही। सत्यकी यह निष्ठा उसकी रग-रगमें समा गयी। सत्य उसके जीवनका सूत्र बन गया।

गांधीका सारा जीवन एकमात्र सत्यकी ही साधना है।

'परमेश्वर सत्य है' कहनेके बजाय वह कहने लगा—'सत्य ही परमेश्वर है। सत्य ही साध्य है। हमें अपना जीवन सत्यमय बनाना है। सत्य है, असत्य नहीं है। सत्य स्वयंसिद्ध है। अहिंसा उसका सम्पूर्ण फल है, अहिंसा सत्यमें छिपी हुई है। अहिंसा सत्यका प्राण है। जो सत्य जानता है, मन, वचन और कर्मसे सत्यका पालन करता है, वह परमेश्वरको पहचानता है।'

गांधीने अपना सारा जीवन सत्यमय बनाया। सत्यपालनके लिये उसने सर्वस्व त्याग देनेको कमर कस ली। व्यक्तिगत जीवनमें ही नहीं, सार्वजनिक जीवनमें भी उसने सत्यनिष्ठाकी प्रतिष्ठा स्थापित की।

गांधीको बचपनसे ही सत्यकी लगन लगी। राजा हरिश्चन्द्रकी कहानी रात-दिन उसकी आँखोंके आगे नाचती रहती थी। मनमें भी सत्य हो, वचनमें भी, कर्ममें भी। पर यह साधना कोई दाल-भातका कौर तो है नहीं। गांधीको पग-पगपर कठिनाईका सामना करना पड़ता, पर हर कठिनाई उसे कुछ-न-कुछ सिखाकर जाती।

पिताजी बीमार थे। गांधीकी इच्छा थी कि वह उनकी सेवा करे। स्कूलकी छुट्टी होती और वह तुरत घर पहुँचकर पिताजीकी सेवामें जुट जाता। उन्हीं दिनों स्कूलके हेडमास्टर दोरावजी एदलजी गीमीने सभी लड़कोंके लिये कसरत करनेका नियम अनिवार्य करा दिया। गांधीने प्रार्थना की कि 'पिताजीकी सेवाके लिये उसे कसरतसे छुटकारा दिया जाय', पर हेडमास्टर साहब माने नहीं।

एक शनिवारकी बात है। पढ़ाई तो उस दिन सुबह हो गयी, कसरतके लिये ४ बजे बुलाया गया। मोहनदास गांधीके पास घड़ी थी नहीं, उधर आसमानमें बादल छाये हुए थे, समयका ठीक अंदाज नहीं लग सका। परिणाम यह हुआ कि गांधी जब कसरतके लिये स्कूल पहुँचा, तबतक सब लड़के कसरत करके घर जा चुके थे।

दूसरे दिन गीमी साहबने रजिस्टर देखा तो उसमें गांधी गैरहाजिर था। पूछा—'कल तुम कसरतमें क्यों नहीं आये ?'

गांधीने सही-सही कारण बता दिया।

गीमी साहबको उससे समाधान नहीं हुआ। उन्होंने नियमानुसार एक-दो आना जुर्माना ठोक दिया।

गांधी लिखता है—'मैं झूठा ठहरा। मुझे बहुत दुःख हुआ। कैसे सिद्ध करूँ कि मैं झूठा नहीं हूँ ? कोई उपाय न रहा। मन मसोसकर रह गया। रोया। समझा कि सच बोलनेवाले और सच्चा काम करनेवालेको गाफिल भी नहीं रहना चाहिये। अपनी पढ़ाईके समयमें इस तरहकी मेरी यह पहली और आखिरी गफलत थी। मुझे धुँधली-सी याद है कि आखिर मैं यह जुर्माना माफ करा सका था।'

सत्यके पालनके लिये सतर्कता और सावधानी भी परम आवश्यक है, यह बात गांधीने उस दिनसे गाँठ बाँध ली।

× × ×

'गांधीकी आत्मकथा'में सत्यके मार्गमें आनेवाली इस प्रकारकी कठिनाइयोंके अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं।

अंग्रेजोंके समान बलशाली बन सकनेके लिये और उन्हें भारतसे मार भगानेके लिये गांधीके कुछ कुमित्रोंने उसे मांसाहारके लिये प्रलोभित किया। अपने पैसे खर्च करके वे मांसाहारका प्रबन्ध करते, पर जब-जब ऐसा प्रसङ्ग आता तो घर जानेपर माँ जब भोजनके लिये बुलाती, तब गांधीको बहाने बनाने पड़ते। उसे कहना पड़ता—'आज भूख नहीं, खाना हजम नहीं हुआ है'। पर भीतरसे उसका जी कचोटता। हर बार उसे भारी आघात लगता—यह झूठ! सो भी माँके सामने!

साथ ही यह भी चिन्ता होती कि वैष्णव माता-पिताको यदि कहीं पता चल जायगा कि बेटे मांसाहारी हो गये तो उनके दिलपर तो मानो बिजली ही टूट पड़ेगी।

सत्यका साधक जब ऐसे प्रलोभनोंमें पड़ता है, तब उसका जी भीतरसे उसे बार-बार कचोटता है—'छि-छिः! क्या कर रहे हो यह गलत काम!'

गांधीकी अन्तश्चेतना भी उसे बार-बार धिक्कारने लगी। अन्ततः उसने निश्चय कर लिया कि 'मांसाहार भले ही आवश्यक है, पर उसके लिये माता-पिताको धोखा देना और झूठ बोलना तो मांस खानेसे भी बुरा है। इसलिये माता-पिताके जीते-जी मांस नहीं खाऊँगा। उनकी मृत्युके बाद स्वतन्त्र होनेपर खुले रूपमें मांस खाना चाहिये'।

—यों माता-पिताके सामने झूठ न बोलनेके पवित्र निश्चयने गांधीसे मांसाहार छुड़वा दिया।

× × ×

गांधीकी सत्यकी साधनाने उसे इसी प्रकार चोरीसे, व्यभिचारसे और अन्य ऐसे ही पापोंसे बचाया। विलायत जाते समय माँने उससे वचन लिया कि वह न तो मांसाहार

करेगा, न शराब पीयेगा और न परस्त्री-सङ्ग करेगा । गांधी-की ये प्रतिज्ञाएँ उसके चरित्रको निर्मल बनाये रखनेमें सदैव उसकी सहायक सिद्ध हुईं ।

और बादमें तो गांधीने जो कुछ किया, वह सत्यके पालनके लिये ही किया । सत्य उसके लिये सीमित और परिहित नहीं था । केवल वाणीका ही नहीं, आचारका भी सत्य था, विचारका भी । उसका स्वभाव ही बन गया कि जो कह दिया, सो करना है । जो निश्चय कर लिया, जो प्रतिज्ञा कर ली, उसे हर हालतमें पूरा करना है । रामायणमें उसने पढ़ा था कि रघुकुलकी रीति है कि प्राण भले चले जायँ, पर वचनका पालन करना ही है—

रघुकुल रीति सदा चलि आई ।
प्रान जाहुँ बरु बचनु न जाई ॥

गांधी कहता था—जो प्रतिज्ञा करो, प्राण देकर भी उसका पालन करो । जो वचन दो, उसे हर हालतमें पूरा करो । जो निश्चय करो, उसकी पूर्तिके लिये कोई बात उठा मत रखो—

तनु तिय तनय धामु धनु धरनी ।
सत्यसंध कहुँ तृन सम बरनी ॥

जब कोई व्यक्ति प्रतिज्ञा करके उसका पालन नहीं करता, उसकी पूर्ति नहीं करता, उससे बच निकलनेके लिये बहाने बनाता, तब गांधीको बड़ा क्षोभ होता था । वह कहता भी—

'तुम मुझे गाली दो, लातोंसे, जूतोंसे ठुकराओ, मारो, पीटो, मेरे मुँहपर थूक दो, तो भी मुझे क्रोध नहीं आयेगा; परंतु यदि तुम दिये हुए वचनका पालन नहीं करोगे तो मुझे क्रोध आ जायगा ।'

ऐसे अनेक प्रसङ्गोंपर गांधी प्रायश्चित्तस्वरूप अनशन करता था । वह कहता था कि 'मेरे सामने जब कोई असत्य बोलता है, तब मुझे उसपर क्रोध होनेके बजाय स्वयं अपने ही ऊपर अधिक क्रोध आता है; क्योंकि मैं जानता हूँ कि अभी मेरे अंदर—तहमें असत्यका वास है ।'

× × ×

अहमदाबादमें मिल-मजदूरोंकी हड़तालके प्रसङ्गमें जब मजदूर डगमगाने लगे, तब गांधीको इसी प्रकारकी वेदना हुई और वह प्रायश्चित्तस्वरूप अनशन करनेके लिये तैयार हो गया ।

× × ×

वकालतका पेशा करनेवाले कालेको सफेद बताते हैं, सफेदको काला; यह बदनाम पेशा है । लोग मानते हैं कि वकील लोग सचको झूठ साबित करा देते हैं, झूठको सच । तभी तो सैकड़ों अपराधी जुर्मसे साफ छूटकर मूँछोंपर ताव देते हुए घूमते हैं और बेचारे निरपराध लोग सजा काटते हैं । वकील यह कहकर बरी हो जाते हैं कि 'हमें तो अपने मुवक्किलको बचाना है । जिसका पैसा खाते हैं, उसके लिये झूठ बोलनेमें क्या हर्ज ।'

गांधीने अपने वकालती जीवनमें इस पद्धतिको उलट दिया । उसने न्यायालयमें सत्यकी प्रतिष्ठा की । उसने अपने उदाहरणसे सिद्ध कर दिया कि वकील भी सच बोल सकते हैं और सच्चे मुकदमोंकी पैरवी करके सत्यकी विजयमें सहायक बन सकते हैं । वह लिखता है—

"...मैं स्वयं सत्यका पुजारी हूँ । जिन दिनों मैं वकालत करता था, मैंने अपने मुवक्किलोंसे कह रखा था कि 'यदि आप मुझे अपना वकील बनाना चाहते हैं तो आपको मुझसे सारी बातें सच-सच बतानी होंगी । मैं झूठे मामलेकी पैरवी नहीं करूँगा ।' परिणाम यह हुआ कि मेरे पास सच्चे और खरे मामले ही लाये जाते थे ।"

गांधीको यदि मुकदमेके दौरानमें पता चलता कि मुवक्किल उससे झूठ बोला है अथवा उसने कोई सही जानकारी उससे छिपायी है तो वह बीचमें ही उस मुकदमेको छोड़ देता, फिर भले ही कितनी ही अधिक फीसका घाटा क्यों न होता । जो व्यक्ति सत्यको अपने जीवनका ध्रुवतारा बना लेता है, उसे सत्यके मार्गपर जानेसे कौन विचलित कर सकता है !

सत्यके साधकको सतत सावधान तो रहना ही पड़ता है, उसे अपनी वाणीपर भी सतत नियन्त्रण रखना पड़ता है । उसे हर शब्दको तौल-तौलकर बाहर निकालना पड़ता है । यथासम्भव मौनका उसे पालन करना पड़ता है । गांधी कहता था—

"अनुभवने मुझे सिखाया है कि सत्यके पुजारीके लिये मौनका सेवन इष्ट है । मनुष्य जाने-अनजाने भी प्रायः अतिशयोक्ति करता है । अथवा जो कहनेयोग्य है, उसे छिपाता है या दूसरे ढंगसे कहता है । ऐसे संकटोंसे बचनेके लिये भी मितभाषी होना आवश्यक है । कम बोलनेवाला मनुष्य विना विचारे नहीं बोलेगा । वह अपने प्रत्येक शब्दको तौलेगा ।"

× × ×

गांधीकी तीन बंदरोंवाली तस्वीर बहुत प्रसिद्ध है। एक बंदर मुँहपर हाथ रखे है, दूसरा आँखोंपर और तीसरा कानोंपर। तीनों यह शिक्षा देते हैं कि 'बुरी बात मत बोलो, बुरी बात मत देखो और बुरी बात मत सुनो।'

गांधी इस तस्वीरको अपने सामने रखता था। सतत सावधानीके लिये कैसा उज्ज्वल आदर्श! एक बार कच्छके चमन कविने मौलाना रूमका यह अनमोल शेर गांधीके पास भेज दिया—

लब बिवन्दो चश्म बंदो गोश बन्द,
गर नबीनी सिरे हक्क, बरमा बिखन्द।

'तू अपने ओठ बंद रख, आँख बंद रख, कान बंद रख। इतनेपर भी तुझे सत्यका गूढ़ तत्त्व न मिले, तब मेरी हँसी उड़ाना।'

गांधीने २९ जुलाई १९३९के 'हरिजन-सेवक'में इस अमूल्य रत्नकी प्रशंसा करते हुए लिखा था—

'आज जब कि हम मनमानी बकवास करते रहते हैं, जब कान यथेच्छ सत्य-असत्य गंदी बातें सुनते रहते हैं, तब इसे वचनबाणकी तरह सीधे हमारे हृदयमें विंध जाना चाहिये। सत्यकी शोधकी ऐसी ही कठिन शर्त है। हम भले ही ओठ, कान और आँखें पूरी तरह बंद न करें; किंतु यदि कर लें तो इससे कुछ गँवायेंगे नहीं। परंतु हम इतना तो अवश्य कर सकते हैं—ओठसे असत्य या कटु वचन न बोलें, कानसे किसीकी निन्दा या गंदी बात न सुनें, आँखसे अपनी इन्द्रियोंको विचलित करनेवाली कोई वस्तु न देखें। हम सत्य ही बोलें, वही सुनें जो हमें आगे ले जाय और आँखसे ईश्वरकी दया-ममता देखें, संतजनोंका दर्शन करें। जो ऐसा करेगा, वही सत्यका दर्शन पा सकेगा, वही शुद्ध सत्याग्रही हो सकेगा और उसकी तपश्चर्यासे हम शान्तिमय स्वराज्यकी झाँकी पा सकेंगे। अन्य सब प्रयत्न मिथ्या हैं।''

सत्यके साधकके लिये कैसा अनुपम पाथेय!

× × ×

एक बार कस्तूरबाके स्वास्थ्यकी दृष्टिसे यह जरूरी लगा कि वे दाल छोड़ दें, नमक छोड़ दें।

गांधीने बासे कहा—'दाल छोड़ दो, नमक छोड़ दो तो तुम जल्दी ठीक हो जाओगी।'

पर दाल छोड़ना, नमक छोड़ना कोई आसान बात है! बाने कहा—'मुझे छोड़नेको तो कहते हो, तुम्हीं छोड़ दो तो जानूँ।'

गांधी बोला—'अच्छी बात। छोड़ा मैंने सालभरके लिये। तुम छोड़ो या न छोड़ो, मैं छोड़ रहा हूँ।'

बा तो शर्मसे कट गयी। उसके मनमें कल्पनातक न थी कि गांधी ऐसा करेगा। उसने तो सहजभावसे ऐसी बात कही थी; फिर वह लाख गिड़गिड़ायी, पर गांधी तो पत्थर था। बोला—'जो कह दिया सो कह दिया। जो व्रत ले लिया, सो ले लिया। तुम घबराती क्यों हो? इस बहाने तुम्हारे प्रति अपना प्रेम-प्रदर्शन करनेका मुझे एक मौका तो मिला!'

× × ×

जीवनकी संध्या-वेलाकी बात है।

गांधी पूर्वी बंगालके उपद्रवग्रस्त क्षेत्रका दौरा कर रहा था।

श्रीरामपुर गाँवमें उसकी तबीअत खराब हो गयी। एक ग्रामवासीके कहनेसे उसने हरी पत्तियोंका काढ़ा पी लिया। वह काढ़ा उसके लिये मुसीबत हो गया।

उस दिन ५ मील दूर चण्डीपुर जाना था गांधीको। नावका रास्ता। नदीमें सिवार भरी थी। रास्तेमें ही गांधीको दस्त और कै शुरू हो गयी। कमजोरी इतनी बढ़ी कि बेहोशी आ गयी। उन दिनों निर्मल बाबू गांधीके मन्त्रीका काम कर रहे थे। उन्होंने यह हालत देखकर सोचा कि श्रीरामपुर लौट चलना ठीक होगा। लिहाजा नाव उल्टी दिशामें घुमा दी गयी।

थोड़ी देरमें गांधीकी बेहोशी दूर हुई; पूछा—'चण्डीपुर कितनी दूर है?'

लोगोंने कहा—'बापू! आपकी हालत खराब देखकर हमलोग श्रीरामपुर वापस लौट रहे हैं।'

'यह कैसे होगा, निर्मल बाबू? वचन दिया है न चण्डीपुरवालोंको! नावको लौटाओ। मैं मर भी जाऊँ तो तुम कह सकते हो कि गांधीने जान देकर भी अपने वचनका पालन किया।'

आँसूभरी आँखोंसे लोगोंने नावकी दिशा बदली। गांधीने चण्डीपुरकी सभामें लोगोंसे देरसे पहुँचनेके लिये माफी माँगी। कमजोरीके कारण उससे बोला नहीं जा रहा था। लेटे-लेटे उसने धीमे शब्दोंमें भाषण दिया।

पर यह कैसे होता कि गांधीने पहुँचनेको कहा था तो वहाँ वह न पहुँचता।

× × ×

गांधीका सारा जीवन ऐसी प्रेरक घटनाओंसे ओतप्रोत है। वह कहता था—

"मैं दूर-दूरसे विशुद्ध सत्यकी—परमेश्वरकी झाँकी कर रहा हूँ। मेरा यह विश्वास दिन-दिन बढ़ता जाता है कि एक सत्य ही है। उसके अलावा दूसरा कुछ भी इस जगत्में नहीं है। यह विश्वास किस प्रकार बढ़ता गया है—इसे जो जानना चाहें, वे जानकर मेरे प्रयोगोंके साझीदार बनें और उस सत्यकी झाँकी भी मेरे साथ करना चाहें, तो भले करें। साथ ही मैं यह भी अधिकाधिक मानने लगा हूँ कि जितना कुछ मेरे लिये सम्भव है, उतना एक बालकके लिये भी सम्भव है। मेरे पास इसके लिये सबल कारण है। सत्यकी शोधके साधन जितने कठिन हैं, उतने सरल भी हैं। वे अभिमानीको असम्भव मालूम होंगे और एक निर्दोष बालकको बिल्कुल सम्भव लगेंगे। सत्यके शोधकको रजःकणसे भी लघु होकर रहना पड़ता है।"

गांधीकी सत्यकी यह साधना हमारे नेत्रोंके समक्ष है। उसका यह जीवन-सूत्र हमारा भी जीवन-सूत्र बन सकता है। इसमें कठिनाई कुछ नहीं, मुश्किल कुछ नहीं। करनेवालों-को कुछ मुश्किल नहीं होता, न करनेवालेको सामने परोसी थालीसे कौर तोड़कर मुँहमें ले जाना भी मुश्किल होता है। गांधी कहता था—

"सत्यकी आराधनाके लिये ही हमारा अस्तित्व, इसीके लिये हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति और इसीके लिये हमारा प्रत्येक श्वासोच्छ्वास होना चाहिये। ऐसा करना सीख जानेपर दूसरे सब नियम सहजमें हमारे हाथ लग जा सकते हैं। उनका पालन भी सहज हो जा सकता है। सत्यके बिना किसी भी नियमका शुद्ध पालन अशक्य है।

"साधारणतः सत्यका अर्थ बोलना मात्र ही समझा जाता है, लेकिन हमने विशाल अर्थमें 'सत्य' शब्दका प्रयोग किया है। विचारमें, वाणीमें और आचारमें सत्यका होना ही सत्य है।"

इस सत्यके पालनमें पग-पगपर कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। उसके लिये गांधीने एक महीनेका एक नुस्खा दिया है। वह कहता है—

"जो बात अहिंसाकी है, वही सत्यकी समझिये। गायको बचानेके लिये झूठ बोला जा सकता है या नहीं?—इस उलझन-में पड़कर अपनी नजरके नीचे जो रोज हो रहा है, उसको भूल जायँ तो सत्यकी साधना न हो सकेगी, यों गहरे पानीमें बैठना सत्यको ढाँकनेका रास्ता है। तत्काल जो समस्याएँ रोज हमारे सामने आकर खड़ी हो रही हैं, उनमें हम सत्य-का पालन करें तो कठिन अवसरोंपर क्या करना होगा, इसका ज्ञान हमें अपने-आप हो जायगा।

"इस दृष्टिसे हममेंसे हरएकको केवल अपने आपको ही देखना है। अपने विचारसे क्या मैं किसीको ठगता हूँ! अगर मैं 'क' को खराब मानता हूँ और उसको बताता हूँ कि वह अच्छा है तो मैं उसे ठगता हूँ। बड़ा या भला कहलानेकी इच्छासे जो गुण मुझमें नहीं है, उसे दिखानेकी कोशिश करता हूँ! बोलनेमें अतिशयोक्ति करता हूँ! किये हुए दोष जिसको बता देने चाहिये, उससे छिपाता हूँ! मेरा साथी या अफसर कुछ पूछता है तो उसके जवाबमें बातको उड़ा देता हूँ! जो कहना चाहिये उसे छिपाता हूँ! इनमें-से कुछ भी करते हैं तो हम असत्यका आचरण करते हैं। यों हरएकको रोज अपने आपसे हिसाब लेकर अपने आपको सुधारना चाहिये। जिसको सच बोलनेकी ही आदत पड़ गयी हो, ऐसी स्थिति हो गयी हो कि असत्य मुँहसे निकल ही न सके, वह भले ही अपने आपसे रोज हिसाब न माँगे; पर जिसमें लेशमात्र भी असत्य हो या जो प्रयत्न करके ही सत्यका आचरण कर सकता हो, उसे तो ऊपर बतायी हुई रीतिसे इन्हीं या इस तरहके जितने सूझें, उतने सवालोंका जवाब रोज अपने आपको देना चाहिये। यों जो एक महीना भी करेगा, उसे अपने आपमें हुआ परिवर्तन स्पष्ट दिखायी देगा।"

आइये, गांधीके सत्यके जीवन-सूत्रको अमलमें लानेके लिये हम आजसे ही अपनेको इस कसौटीपर कसना शुरू कर दें। हम आत्मनिरीक्षण शुरू कर दें।

सत्यरूपी परमेश्वर हमें सत्यके मार्गपर बढ़ायेगा ही। शर्त इतनी ही है कि हममें गांधीकी तरह सत्यके प्रति इतनी उत्कृष्ट आस्था होनी चाहिये कि 'प्रान जाहुँ बरु बचनु न जाई'।

सज्जन और दुर्जनकी खोज

[कहानी]

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

'खोज लाये दुर्जन ?' गुरु द्रोणाचार्यने युधिष्ठिरसे पूछा। युधिष्ठिर चुप खड़े थे, सोच-विचारमें डूबे हुए।

'मैंने तुम्हें आज्ञा दी थी कि समाजमें जाओ, तरह-तरहके लोगोंसे मिलो, बातें करो, उनके चरित्रोंका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करो और ध्यानपूर्वक मुझे एक दुर्जन खोजकर लाओ। इतने दिनों तुम्हें विद्याध्ययन कराया है, शास्त्रोंका नवनीत पिलाया है। तुम शास्त्रोंमें पारंगत हो। न्याय, धर्म, नीति और सत्यरक्षामें हमारे सब शिष्योंमें श्रेष्ठ हो। मनुष्यके चरित्रका अध्ययन देखें, तुम्हारा कितना गहन है! एक दुर्जन खोजकर प्रस्तुत करो, युधिष्ठिर !'

युधिष्ठिरसे गुरु द्रोणाचार्य प्रश्न पूछ रहे थे, पर वे चुप। विचारोंमें निमग्न!

'अरे युधिष्ठिर! तुम चुप कैसे खड़े हो ? तुम-जैसे कुशाग्र-बुद्धि विद्यार्थीपर तो मुझे सदासे गर्व है। तुम्हें जो काम दिया था, वह तुमने किया या नहीं ? यह जवाब दो।'

'गुरुदेव ! क्षमा करें।' वे फिर चुप हो गये।

'आखिर क्या बात है ? तुम अपने-आपको स्पष्ट क्यों नहीं करते ? क्या कठिनाई है ? तुम गुरुकुलमें शास्त्रीय विद्याध्ययन पूर्ण कर चुके हो। हमारे समस्त विद्यार्थियोंमें सज्जन हो। जो काम सौंपा था, वह तुमने किया या नहीं ? कुछ कहते क्यों नहीं ?' वे युधिष्ठिरको निहारते रहे।

'गुरुदेव ! मैं हार गया, थक गया।' युधिष्ठिरने निराश स्वरमें उत्तर दिया।

'ऐं ! हार गये ? क्या कह रहे हो, युधिष्ठिर ?' द्रोणाचार्यने आश्चर्यसे पूछा। 'कैसे हार गये ? तुम दूर-दूरतक घूम आये हो। असंख्य लोगोंसे मिले हो। शहर और ग्रामोंमें ढूँढ़ते फिरे हो। न जाने कहाँ-कहाँकी खाक छानी है! फिर कहते हो कि हार गये, दुर्जन न ढूँढ़ पाये ?'

'गुरुदेव ! मैं दूर-दूरतक घूमने गया, लोगोंसे मिला-जुला। उनके गुणोंको देखा और जाँचा, हर प्रकार परीक्षण किया; पर खेदके साथ कहना पड़ता है कि मुझे दुर्जन न मिला।'

'अरे, दुर्जन कोई भी न मिला ?' आश्चर्यमिश्रित हर्षके स्वरमें द्रोणने पूछा।

'हाँ, गुरुदेव! क्षमा करें, मुझे दुर्जन कोई भी न मिला। मैं अपनी असफलता स्वीकार करता हूँ। मैं बहुत घूमा-फिरा, पर दुर्जन खोजे न मिला........।'

'तुम्हें क्या दिखायी पड़ा उनमें।' द्रोणने पूछा।

'गुरुजी ! मैं दुर्जनता तलाश करता रहा, पर मुझे तो हर किसी व्यक्तिमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपसे सज्जनता ही दृष्टिगोचर हुई। सभी सज्जन लगे। कोई बुरा व्यक्ति न मिला, क्या करूँ ?'

'क्या कहा ? स्पष्ट करो अपना दृष्टिकोण युधिष्ठिर ! कुछ समझमें नहीं आया !'

'गुरुजी ! मैं जहाँ कहीं भी गया, वहीं मुझे सज्जन ही मिले। मैंने जिस किसीको भी परखा, उसमें सद्गुणोंके ही दर्शन हुए। अच्छाईकी शुभ किरणें फैली हुई मिलीं। मैंने जिस किसीको भी दुर्जन समझकर टटोला, उसमें सज्जनताके प्राणतत्त्व मिले। कोई खराब आदमी न मिला।'

'सज्जनताके प्राणतत्त्व मिले ? यह क्या कह रहे हो, युधिष्ठिर ?'

'गुरुदेव ! अन्तरात्माको शब्दोंमें उँडेल रहा हूँ। मुझे तो हर किसी व्यक्तिमें सज्जनता और ईश्वरकी झाँकी दिखायी देती रही। दुर्जन एक भी न मिला।'

गुरु द्रोणाचार्यने युधिष्ठिरको प्यारसे गले लगा लिया। उन्हें अपने प्रिय शिष्यमें कुछ ऐसा दैवी गुण दिखायी दे रहा था, जिसे उनकी आत्मा अनुभव कर रही थी। उनका रोम-रोम आनन्दमें डूबा हुआ था, पर कोई कुछ कह न पा रहा था। वे अपने गुरुरूपकी सर्वोच्च सिद्धि मान रहे थे।

× × ×

दूसरे दिन गुरु द्रोणने दुर्योधनको बुलाकर उसका भी उसी प्रकार परीक्षण किया। वे बोले, 'दुर्योधन! अब तुम्हारा शिक्षाक्रम समाप्त होता है। हमें तुम्हें शास्त्रोंका जितना ज्ञान कराना था, वह सब पुस्तकीय ज्ञान तुम्हें दे चुके हैं। अब तुम्हें एक कार्य सौंपते हैं। करोगे, दुर्योधन ? तुम्हारी परीक्षा लेनी है।'

'अवश्य, गुरुदेव ! आप आज्ञा दें। जरूर गुरुजीकी आज्ञाका पालन करूँगा।' दुर्योधनने उत्तर दिया।

'एक सज्जन खोजकर लाओ, दुर्योधन !'

'सज्जन खोजकर लाऊँ ? ठीक है, गुरुदेव ! मैं जाता हूँ, सज्जन खोजकर सेवामें प्रस्तुत करूँगा।'

दुर्योधन चला गया—सज्जन व्यक्तिकी खोजमें !

'सज्जन व्यक्ति ! अरे, यह तो बड़ा सरल-सा कार्य है ! इसे तो मैं अनायास ही कर डालूँगा।' दुर्योधनने मन-ही-मन सोचा।

वह एक सज्जन व्यक्तिकी तलाश करने लगा। अनेक मानव-समुदायोंमें घूमता फिरा, लोगोंसे मिला-जुला, बातचीत की, उनके चरित्रोंका परीक्षण किया। उनके मनमें छिपे हुए गुप्त भावों और मनके भेदको जाननेकी युक्तियाँ कीं। सज्जन आदमी चाहिये था।

लेकिन यह क्या ? उसने जितने भी व्यक्तियोंको परखा, उसे वे सब दुर्जन-ही-दुर्जन प्रतीत हुए। सबमें एक-से-एक बढ़कर छल-छद्म, कपट-स्वार्थ, पाप ही दृष्टिगोचर हुए। ऊपरसे वह जिसे शरीफ समझता, अंदरसे उसे वही खोखला मिलता। जिसे वह गुणोंसे प्रकाशित समझता, वही कलङ्करूपी अन्धकारसे काला मिलता। कोई उसे जुएमें लगा मिला, तो दूसरा रिश्वत या बेईमानीसे अनधिकारपूर्वक धन हड़पता प्रतीत हुआ। सर्वत्र विनाशकारी परिस्थितियाँ दिखायी दीं। उसने पाया कि सभ्यता और शराफतका बाना पहिने अनेक लोग चुपचाप मनमानी शराब पीकर आपसमें लड़ते रहते हैं और नशेमें धुत् होकर रात-भर इधर-उधर घूमते रहते हैं। खोजते-खोजते वह थक गया, पर उसे कोई सज्जन न मिला। 'हे ईश्वर ! क्या दुनियामें कोई सज्जन नहीं है?' वह सोचने लगा।

थका-हारा, पराजित-सा दुर्योधन गुरु द्रोणाचार्यके सामने खड़ा था। कुछ कह नहीं पा रहा था।

'कहो, दुर्योधन ! सज्जन खोजकर लाये ?'

'क्षमा करें, गुरुदेव ! सज्जनकी तलाशमें मैं असफल रहा। मैंने बहुतेरा खोजा, पर मुझे तो हर जगह दुर्जन-ही-दुर्जन मिले। उनमें मुझे सैकड़ों दुर्गुण ही दिखायी दिये, सद्गुण दृष्टिगोचर ही न हुए। मैं अपने-आपको इस खोजमें असफल मानता हूँ।'

दुर्योधन कुछ देर चुपचाप खड़ा रहा।

फिर ठंडी आह भरकर पूछने लगा, 'गुरुदेव! इसका क्या कारण है? क्या दुनियामें कोई भी सज्जन नहीं है?'

द्रोणाचार्य कहने लगे, 'दुर्योधन ! ऐसी बात नहीं है। संसारमें दुर्जन और सज्जन, काँटे और फूल, पत्थर और रत्न, कालिमा और प्रकाशकी तरह सभी जगह मिलते हैं। समाजमें सभी प्रकारके, सभी स्वभावों-रुचियोंके, गुण-अवगुणोंसे परिपूर्ण व्यक्ति उपलब्ध हैं।

'पर मुझे सज्जन क्यों नहीं मिला, गुरुदेव !' दुर्योधनने आगे पूछा।

'दुर्योधन ! बुरा मत मानना। यह सब दृष्टिका हेर-फेर है। जो व्यक्ति जैसा स्वयं होता है, उसे सब अपने ही समान दृष्टिगोचर होते हैं।'

'फिर मनुष्य-जीवनकी सफलता किस बातमें निहित है, गुरुदेव ?'

'दुर्योधन ! सुनो, शास्त्रोंमें इसका उत्तर है—

येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा।
तेन सहस्रधारेण पवमानीः पुनन्तु नः॥
(सामवेद ५।२।८(५)

मनुष्यके जीवनकी सफलता इस तत्त्वमें निहित है कि वह आत्मिक और मानसिक दोषोंको त्यागकर अपने दृष्टिकोण और मनको निर्मल और पवित्र बनाये। आत्मा मल-विक्षेप और आवरणरहित बने—इसके लिये अनेक उपाय वेदोंमें वर्णित हैं। अतः वे पठनीय हैं।'

दुर्योधन सोच रहा था, 'जो जैसा स्वयं होता है, उसे सब अपने ही समान दृष्टिगोचर होते हैं। गुरुदेवने बड़ी अनुभवपूर्ण बात कही है यह !'

यह संसार वैसा ही है, जैसे वास्तवमें हम स्वयं हैं। हम खुद ही अपनी आन्तरिक छाया, अपने मनोभाव, रुचि, अनुभव बाहरी संसारमें फेंकते हैं। यदि हमें संसार अच्छा प्रतीत होता है तो इसका कारण यह है कि हमारी स्वयंकी भावभूमि उन्नत है। हम अपनी भावनाओंमें स्वस्थ और सज्जन हैं। यदि हम स्वयं दुर्जन हैं, तो इसका कारण यह है कि हमारे गुप्त मनमें गंदगी एकत्रित हो गयी है, जिसकी दुर्गन्ध बाहर फैली हुई है।

नाम-मोह—एक महारोग

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

यशःकामना आज सबसे बड़ी बीमारी हो गयी है। कोई भी कवि या लेखक अपनी रचनाको, चाहे वह साधारण-सी ही क्यों न हो, प्रकाशित हुआ देख प्रसन्न होता है। प्रकाशित करानेका प्रयत्न करता है—केवल इसीलिये कि उसका नाम पत्र-पत्रिकाओंमें आये। कोई भी व्यक्ति किसी भी संस्थाको १) भी दान देते समय इच्छा रखता है कि किसी पत्रमें उसका उल्लेख अवश्य होना चाहिये। इससे उसे आनन्द होता है। मन्दिर और धर्मशालाके निर्माणमें सहायता प्रदान करनेपर एक शिलालेख अवश्य दीवालमें लगना चाहिये। यह नाम-प्रकाशनकी ही महिमा है कि जो व्यक्ति साधारण तौरपर दस-बीस रुपये प्रदान करनेमें संकोच करता है, उससे नाम-प्रकाशनका लोभ दिखाकर हजारों रुपये लिये जा सकते हैं। यही हाल पुस्तक-प्रकाशनका है। किसीसे यों जाकर आप केवल पुस्तक खरीदनेको कहें तो टका-सा जवाब मिलेगा कि 'भाई ! हम इसका क्या करेंगे ? हमें पढ़ना तो आता ही नहीं।' परंतु उनका फोटो दिया जाय और जीवनचरित्र छापा जाय तो वे उस पुस्तकके प्रकाशनका सारा भार स्वीकार कर लेंगे और आगे आपसे उसका हिसाब भी न माँगेंगे। ऐसी हालतमें पुस्तक किसी भी कामकी न हो, तो भी आपका काम बन जायगा। लेकिन यह बात यहींतक सीमित नहीं रहती, लेखकको भी अपनी कृतिका मोह रहता है और इस कारण वह भी उचित-अनुचित करनेके लिये तैयार हो जाता है। कई लेखक इसके लिये दूसरोंकी रचनाओंपर भी अपने नामकी छाप लगाते नजर आते हैं। यह इसी नाम-मोहकी महिमा है।

यही बात पूजा, प्रतिष्ठा, धूमधाम, स्वधर्मि-वात्सल्य, उद्यापन, रथयात्रा, सभापतित्व आदिके विषयमें कही जा

सकती है। केवल धार्मिक ही नहीं, सामाजिक, राजनीतिक और पारिवारिक कार्यों और प्रसङ्गोंपर नामके लिये हजारों और लाखों रुपये पानीकी तरह बहानेवाले कई मिल सकते हैं; लेकिन गुप्त सहायताके लिये उनकी इच्छा नहीं होती। स्थायी प्रभाव रखनेवाले ठोस कार्योंके लिये भी वे तैयार नहीं होंगे, यदि उन्हें यह ज्ञात हो जाय कि इसमें तत्काल वाहवाही नहीं मिलनेवाली है। इसीलिये सच्चा और स्थायी कार्य नहीं हो पाता। दिखावटी, प्रदर्शनके कार्य ही अधिक होते हैं। यह नाम-मोहरूपी महारोगका ही प्रभाव है।

भारतवर्षके प्राचीन इतिहासका अनुशीलन करनेपर ज्ञात होता है कि हमारे पूर्वज कार्य तो बहुत सुन्दर और उपयोगी करते थे, परंतु उनका उद्देश्य परोपकार और आत्मकल्याण ही होता था, यशोलिप्सा और नामवरी नहीं। प्राचीन साहित्यमें अनेकों ग्रन्थ ऐसे उपलब्ध हैं, जिनके रचयिताओंके नामतकका पता नहीं चलता। यदि किन्हीं-किन्हींके नाम ज्ञात हुए तो दूसरे साक्ष्यों-द्वारा बड़े परिश्रमके बाद ही। इसी प्रकार मन्दिर और धर्मस्थानों आदिमें भी शिलालेख बहुत कम प्राप्त होते हैं। परंतु हमें नाम-मोहने इतना विवेकहीन बना दिया कि उन प्राचीन स्मारकोंकी किंचित् मरम्मत, जीर्णोद्धार अथवा रूपान्तर करवाकर अपना नाम खुदवा देते हैं और पूर्वजोंकी स्मृति एवं महान् कार्य-कलापोंको सदाके लिये विस्मृतिके गर्भमें डाल देते हैं।

वास्तवमें देखा जाय तो गुण और कर्त्तव्य ही अमरता प्रदान करते हैं, नाम तो आयुके साथ ही मिट जाता है। नाम उन्हींका अमरता और स्थायी महत्त्वको प्राप्त करता है, जो काम कर जाते हैं, कर्त्तव्यकी वेदीपर अपना जीवन समर्पण कर जाते हैं। कृषकके लिये धान्य बड़ी चीज है, घास तो बिना इच्छाके अपने-आप उग आती है और उसका लाभ उसे मिल जाता है। कार्य किया है तो नाम स्वतः मिल जायगा। परंतु जहाँ केवल नाम ही उद्देश्य है, वहाँ काम लुप्त हो जायगा।

बहुत बार ऐसा होता है कि काम एक करता है और यश दूसरा हथिया लेता है। सम्पत्ति और सत्ताके द्वारा ही यह हथियानेका चक्र चलता है। दान देनेपर किसी धनिकका नाम तो तत्काल प्रसिद्धिमें आ जायगा, परंतु उस दानका उपयोग करके जिसने उसे सार्थक किया, उसकी कोई गिनती ही नहीं होती। काम करनेवाला सेठ नहीं, नौकर या कार्यकर्त्ता होता है। युद्धमें लड़ते हैं, अपने प्राणोंकी आहुति देते हैं सैनिक; परंतु नाम सेनापति या राजाका होता है। इस प्रकार एकका लाभ दूसरा हथिया लेता है। कई विद्वानोंकी रचना उनके आश्रयदाता राजादिके नामसे ही प्रसिद्ध होती है, कई लोग दूसरोंकी रचनाओंको स्वरचित घोषित करनेका कुत्सित प्रयत्न भी करते हैं।

आश्रित कवियोंके आश्रयदाताओंके नामपर प्रसिद्ध रचनाएँ अनेक मिलती हैं। इसे साहित्यवेत्ता एवं इतिहासज्ञ अच्छी तरह जानते हैं। आज भी कई सेठ और त्यागी रुपये देकर विद्वानोंके नामको मिटानेका घृणित कर्म करते हैं। यह सारी बुराई नाम-मोहरूपी महारोगका परिणाम है।

हमारे मनीषियोंने इस बुराईको हटानेके लिये बहुत सुन्दर उपदेश दिये हैं; परंतु किसे अवकाश है उनकी ओर ध्यान देनेका! हमारी दृष्टि तो अन्तर्मुखी न होकर बहिर्मुखी हो रही है। अन्यथा कविवर बनारसीप्रसादके ये शब्द कितने उद्बोधक हैं! जरा ध्यानसे पढ़िये और अपनी वृत्तिका निरीक्षण कीजिये—

थिर न रहै नर-नाम की कथा जथा जल-रेख।
एते पर मिथ्या-मति ममता करै विशेष॥

× × × ×

जहाँ सत्कार्य है, गुण है, वहाँ नाम तो बिना चाहे मिल जाता है। गुलाबका पुष्प नहीं कहता कि मेरे

पास आओ, मेरी प्रशंसा करो; पर उसकी सुगन्ध जिसकी नाकमें पहुँचती है, वह स्वतः आकर्षित हो कहने लगता है, 'क्या बढ़िया सुगन्ध है; चलो, उसके पास चलें।' एक व्यक्ति चुपचाप एकान्तमें कोई सत्कार्य करता है, पर उसके सत्कार्यकी सुगन्ध छिप नहीं सकती और दूनी प्रशंसा होती है। नामकी अपेक्षा रखनेवाले दिखावटी लोग अधिक होते हैं। वे उतने महत्त्वका काम नहीं करते। अतः वह नाम भी थोड़े समयमें भुला दिया जाता है। इसलिये नाम-मोह एवं यशोलिप्साके पीछे नहीं पड़ना चाहिये।

चँदरी बुआ

(लेखक—श्रीरामेश्वरजी टाँटिया)

राजस्थानमें पुराने जमानेमें ऐसी प्रथा थी कि एक ही गाँवमें शादी-विवाह नहीं होते थे। लड़कीको दूसरे गाँवमें देते थे और दूसरे गाँवकी लड़कीको बहू बनाकर लाते थे। यहाँतक होता था कि अगर किसी गाँवमें बारात आती तो वर-पक्षके गाँवकी जितनी भी लड़कियाँ वहाँ ब्याही हुई होतीं, सबको मिठाई भेजी जाती थी।

अपने गाँवकी लड़कीको, चाहे वह किसी भी जातिकी हो, आयुके अनुसार भतीजी, बहिन या बुआ कहकर पुकारा जाता था। मुझे याद है कि हमारे घरके पासमें एक मुसलमान लखारोंका घर था और हम उन सबको चाचा, ताऊ या चाची, ताई कहकर पुकारते थे।

अब गाँव, कस्बोंमें परिवर्तन हो गये हैं और यातायातके साधन सुलभ होनेसे आवागमन भी बढ़ गया है, इसलिये यह प्रथा कम होती जा रही है।

इस कथाकी नायिका चँदरी बुआका जन्म राजस्थानकी बीकानेर रियासतके एक गाँवमें आजसे ११० वर्ष पहले एक ब्राह्मण-परिवारमें हुआ था।

जब चँदरी १२ वर्षकी हुई, तब उसका विवाह हुआ। पासके गाँवसे बारात आयी और सारे कार्य धूम-धामसे सम्पन्न हुए।

उसका पिता साधारण स्थितिका ब्राह्मण था, परंतु उन दिनों विवाह-शादियोंमें घरवालोंको कुछ विशेष नहीं करना पड़ता था। गाँवके पुरुष और स्त्रियाँ सारे कामोंका आपसमें बँटवारा कर लेते थे। प्रति घरसे एक-दो रुपये टीके या बानके रूपमें भी दिये जाते थे, जिससे माँ-बापका खर्चका बोझ भी कम हो जाता था।

विवाह तो बचपनमें ही हो जाते, पर गौना तीन या पाँच वर्ष बाद होता था, उससे पहले बहू ससुराल नहीं जाती थी। चँदरीके पतिका देहान्त गौना होनेके पूर्व ही हो गया, फिर वह ससुराल नहीं गयी और मायके ही रहने लगी।

पहले तो वह शायद 'बेटी' या 'बहिन'के नामसे पुकारी जाती रही होगी; पर मैंने जब होश सँभाला, तबतक वह प्रौढ़ा हो चुकी थी और उसे 'बुआ'का पद मिल चुका था। उसके माँ-बाप स्वर्गवासी हो चुके थे। वह सारे मुहल्लेकी 'बुआ' कहलाने लगी थी।

दान-दक्षिणाके प्रति उसे प्रारम्भसे ही ग्लानि थी। इसीलिये सबके साथ उसके अच्छे सम्बन्ध होनेपर भी वह श्रम करके ही अपना जीवन-निर्वाह करती थी। सुबह ४ बजे उठकर चक्की पीसने बैठ जाती और सूर्योदयतक ८ से १०सेरतक अनाज पीस लेती। इससे उसे प्रतिदिन २ से २॥ आनेतक कमाई हो जाती। उसे कभी कामका अभाव न रहता; क्योंकि एक तो वह काममें स्वच्छता रखती तथा दूसरे अनाजको साफ करके पीसती तथा पिसाईमें आटा घटाती न थी।

जब कभी हमारी नींद पहले खुल जाती, तब चँदरी बुआके भजन तथा चक्कीकी आवाज सुनायी पड़ती। उन दिनों अलार्म घड़ियाँ तो सुलभ थीं नहीं, अतः जिसे कभी मुहूर्त साधकर जाना होता या पहले उठना होता, वह चँदरी बुआको समयपर जगानेको कह जाता और वह उसे नियत समयपर जगा देती। उस समय तारोंको देखकर समयका ज्ञान बड़ी-बूढ़ी स्त्रियोंको रहता था।

उसकी आवश्यकताएँ कम थीं, इसलिये दो-ढाई आनेमें सामान्य जीवन-निर्वाह हो जाता था। चँदरी बुआने इससे अधिक कमानेकी आवश्यकता कभी नहीं समझी। दिनमें वह मुहल्लेके बच्चोंकी देख-भाल करती तथा कोई बीमार होता तो उसकी सेवा करती रहती। उन दिनों प्रसवका काम सयानी स्त्रियाँ या दाइयाँ ही सँभालती थीं। कठिन-से-कठिन समयमें भी चँदरीके आ जानेपर घरवालोंको और जच्चाको सान्त्वना एवं साहस मिल जाता था।

उसने जीवनका सारा प्रेम और ममत्व दूसरोंके बच्चोंपर उँड़ेल दिया। मुहल्लेके बच्चे सारे दिन उसे घेरे रहते थे—किसीको पतंगके लिये लेई चाहिये तो किसीको अपनी गुड़ियाके विवाहके लिये रंग-बिरंगे कपड़े। उसके दरवाजेसे निराश जाते किसीको नहीं देखा।

संगीतकी शिक्षा प्राप्त किये बिना ही उसे ताल और स्वरका यथेष्ट ज्ञान था। विधवा होनेके कारण विवाह-शादीके गीत तो नहीं गाती, परंतु भजन और रातीजगा (रात्रि-जागरण) उसके बिना नहीं जमते थे। मीरा और सूरके पदोंको इतनी लवलीन होकर मधुर रागिनीसे गाती कि सुननेवाले भाव-विभोर हो जाते।

जब वह काफी वृद्धा हो चली थी, तब भी मैंने उसे देखा था। उस समय अनाज पीसना तो उसके वशकी बात नहीं थी, फिर भी कुछ छोटा-मोटा काम करती रहती थी। वह इतनी बूढ़ी हो चली थी कि उसके हाथ और गर्दन काँपने लग गये थे और आवाजमें भी हकलाहट-सी आ गयी थी।

प्रतिवर्ष गर्मीके मौसममें लोग हरिद्वार और बदरिकाश्रम जाते थे। चँदरी बुआसे लोगोंने बहुत बार आग्रह किया, परंतु उसका एक ही जवाब होता कि 'मुझ गरीब और अभागिनके भाग्यमें तीर्थ-स्नान कहाँ है? यह सब तो सौभाग्यशाली लोगोंको मिलता है।'

एक दिन उसने मुझे बुलाया और कहने लगी—'आजकल स्वास्थ्य जरा ठीक नहीं रहता; पता नहीं कब शरीर छूट जाय। मेरी इच्छा अपनी ससुरालके गाँवमें एक कुआँ बनानेकी है। वहाँ एक ही कुआँ है। इसलिये गर्मीमें गायें और ढोर तो प्यासे रहते ही हैं, मनुष्योंको भी पूरा पानी नहीं मिलता। तुम पता लगाकर बताओ कि एक कुएँपर कितना खर्चा आयेगा।' मैं आकर सोचने लगा कि 'बुढ़ापेमें बुआका दिमाग खराब हो गया है। आजकल दोनों वक्तका खाना भी खुद नहीं जुटा पाती, इसपर भी कुआँ बनानेकी धुन लगी है।'

बात आयी-गयी हो गयी; परंतु १०-१२ दिन बाद देखता हूँ कि लाठी टेकती बुआ सुबह-ही-सुबह हाजिर है। मनमें अपनेपर ग्लानि और क्षोभ हुआ कि 'जिसकी छत्रछायामें बचपनके इतने वर्ष बिताये, जिससे नाना प्रकारके छोटे-मोटे काम लिये, बहुत रात गये तक कहानियाँ सुनीं—उसके एक छोटे-से कामपर भी मैंने ध्यान नहीं दिया।'

मैंने कहा—'वहाँ पानी बहुत नीचा है, इसलिये कुएँपर दो-ढाई हजार रुपये खर्च होंगे। यदि कुई (छोटा कुआँ) बनायी जाय तो शायद डेढ़ हजारतकमें बन सकेगी।'

मेरा उत्तर सुनकर बुआके झुर्रियोंसे भरे चेहरेपर एक गहरी उदासी छा गयी और मन-ही-मन कुछ हिसाब-सा लगाने लगी। दूसरे दिन मुझे अपने घर आनेको कहकर चली गयी।

अगले दिन जब मैं उसके यहाँ पहुँचा तो देखा कि वह मेरी प्रतीक्षा कर रही है। थोड़ी देर बाद इधर-उधर देखकर मुझे भीतरकी एक कोठरीमें ले गयी। खाटके नीचेसे एक पुराना डिब्बा निकाला और उसे खोलकर मेरे सामने उँड़ेल दिया।

विक्टोरिया, एडवर्ड और जार्ज पञ्चमकी छापके पुराने रुपये थे तथा कुछ रेजगारी थी। थोड़े-से चाँदीके गहने थे और एक सोनेकी मूरत थी, जो शायद उसकी माँने उसके विवाहके समय उसको दी होगी।

मैं रुपये गिन रहा था और पिछले ६०–७० वर्षोंका इतिहास मेरे मानसमें तैर रहा था। सोच रहा था—इस वृद्धाकी सारी उम्रकी कड़ी कमाईका यह पैसा है, जो उसने कठिन जीवन बिताकर, यहाँतक कि तीर्थ-यात्राकी बलवती इच्छाको भी दबाकर इकट्ठा किया है। आज जीवनके संध्याकालमें सारा-का-सारा परोपकारमें लगा देना चाहती है। गिनकर मैंने बताया कि 'लगभग ९००) रुपये हैं। ३००) रुपयेके गहने होंगे। इतनेमें काम बन जायगा; जो कुछ थोड़ी कमी रहेगी, उसकी व्यवस्था हो जायगी। कोई चिन्ताकी बात नहीं है।'

वह बोली—'बेटा! मेरे पतिके निमित्त कुआँ बनेगा। इसमें दूसरोंका पैसा कैसे ले सकूँगी। नहीं होगा तो एक मजदूर कम रखकर कुछ काम मैं कर दिया करूँगी।' मैंने पूछा, 'बुआ! कुएँपर किसके नामका पत्थर लगेगा?' अपनी धुँधली आँखोंको कुछ फैलानेकी चेष्टा करते हुए बुआने जवाब दिया कि 'नामकी इच्छासे पुण्य घट जाता है। फिर मनुष्य तो स्वयं क्षणभङ्गुर है, उसके नामका मूल्य ही क्या?'

मुझे इस अपढ़ वृद्धाके तर्कपर आश्चर्यके साथ श्रद्धा हो रही थी। यह कुआँ बनानेके परोपकारी कामके वास्ते सर्वस्व लगाकर भी न तो अपना और न अपने पतिके नामका पत्थर लगानेकी इच्छा रखती है—जब कि आज १ लाख लगाकर ५ लाखकी इमारतपर या संस्थाके साथ अपना नाम लगानेकी होड़ धनवान् और विद्वानोंमें लगी रहती है तथा उद्घाटन-समारोह किसी मन्त्री या नेतासे करायें, इसपर भी काफी सोच-विचार होता है। तै नहीं कर पा रहा था कि कौन बड़ा दानी है और किसका दान अधिक सात्त्विक है।

कुछ दिनों बाद उस गाँवमें गया तो देखा कि कुआँ बन रहा था और चँदरी बुआ भी मजदूरोंके साथ टोकरी ढो रही थी। उसकी लगन और परिश्रम देखकर दूसरे मजदूर-कारीगर भी जी-जानसे काममें जुटे थे। कुआँ बनकर तैयार हो गया, परंतु चँदरी बुआ थककर बीमार हो गयी। जिस दिन हनुमान्‌जीका जागरण और प्रसाद हुआ, वह बेहोश-सी थी।

किसीने कहा—'बुआ! तुम्हारे कुएँका पानी तो बहुत मीठा निकला है, परंतु तुम तो बहुत दिन नहीं पी सकोगी।' वह बोली—'मेरा इसमें क्या है? तुम सब लोगोंमें रहकर कमाया हुआ पैसा था, वह भले काममें लग गया। दूसरोंके कुओंसे सारी उम्र पानी पिया है, इसलिये इस छोटे-से प्रयत्नके द्वारा मैंने अपना ऋण चुकानेका प्रयास किया है। मेरी अन्तिम इच्छा है कि जब मेरे प्राण निकलें, गङ्गाजलकी जगह इसी कुएँका पानी मेरे मुँहमें डालना।'

हनुमान्‌जीके जागरणमें आस-पाससे देहातके काफी लोग इकट्ठे थे। थोड़ी देर बाद ही वहीं सबके सामने बुआका देहान्त हो गया।

आज वह गाँव बड़ा हो गया है और दूसरे कुएँ भी बन गये हैं, परंतु चँदरीके कुएँके पानीके समान मीठा पानी किसीका भी नहीं है।

भक्त-गाथा

[दक्षिण भारतकी सुप्रसिद्ध महिला-संत कारैक्काल अम्मैयार]

(लेखक—श्रीवल्लभदासजी बिन्नानी 'व्रजेश', साहित्यरत्न, साहित्यालंकार)

संत सुन्दरने, जिनकी शैव मतके चार प्रमुख आचार्योंमें गणना है, तमिळनाडुके सिद्ध एवं प्रतिष्ठित शैव संतोंकी एक सूची तैयार की थी। इसमें ६० पुरुषों और तीन स्त्रियों—कारैक्काल अम्मैयार, पाण्ड्य-कुलकी महारानी मंगैयर्क-राशियार और संत सुन्दरकी माता इशैज्ञानियारके नाम थे। संत अम्मैयारका जन्म कारैक्कालमें हुआ था, इसीलिये उन्हें 'कारैक्काल अम्मैयार' कहा जाता है। अम्मैयारका जन्म किस शताब्दीमें हुआ, इसके विषयमें कोई निश्चित सूचना तो उपलब्ध नहीं है, लेकिन इस बातके प्रमाण अवश्य हैं कि वे शैव आचार्य तिरुज्ञानसम्बन्धके समयसे पहलेकी थीं। आचार्य तिरुज्ञानके सम्बन्धमें प्रामाणिकरूपसे यह ज्ञात है कि वे सातवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें हुए थे। इसलिये अम्मैयारका जीवनकाल ४०० से ६०० ईसवीके बीचमें कहीं रहा होगा।

कारैक्काल अम्मैयारकी जीवन-गाथाके बारेमें सूचना प्राप्त करनेका मुख्य स्रोत तिरुत्तोण्डर-पुराण चोळ सम्राट् कुलोत्तुङ्ग द्वितीय (ईसवी ११३३ से ११४६) के प्रधान मन्त्री सेक्किलारके लिखे हुए इस ग्रन्थको 'पेरिय' अर्थात् 'बृहत् पुराण' भी कहा जाता है। इसके अतिरिक्त संत अम्मैयारकी काव्य-रचनाओंसे भी उनकी मान्यताओं, आकाङ्क्षाओं और आध्यात्मिक सिद्धियोंके बारेमें पर्याप्त सूचना प्राप्त होती है।

अब इस लेखमें पाठकोंको अम्मैयारके जीवनचरित्रका परिचय देनेके लिये पेरिया पुराणमें वर्णित वृत्तान्त लगभग जैसा-का-तैसा प्रस्तुत किया जायगा।

कारैक्काल कई सदियोंसे एक महत्त्वपूर्ण और समृद्ध व्यापार-केन्द्र बना हुआ था। उस बंदरगाहसे बड़े पैमानेपर आयात-निर्यातका व्यापार हुआ करता था। वहाँके धनाढ्य वणिक् और व्यापारी अपने समस्त कार्य-कलापमें सत्यके सिद्धान्तोंका पालन किया करते थे। इस वणिक्-समुदायके मुखिया धनदत्तके घरमें अम्मैयारने जन्म लिया। इस विलक्षण सुन्दर और सौम्य कन्याका नाम रखा गया—पुनीतवती।

पुनीतवतीने शैशवकालमें ही भक्तिमार्ग अपना लिया था। तुतला-तुतलाकर वह भगवान् शंकरके नामका जप करती और आह्लादित हो उठती। बड़ी होनेपर उन्होंने अपनी एक कवितामें लिखा—

'हे सकल ब्रह्माण्डके उज्ज्वल-नीलकण्ठवाले स्वामी! मैंने जबसे बोलना सीखा है, तेरे ही नामका उच्चारण किया है। तेरे ही श्रीचरणोंमें अपना सम्पूर्ण प्रेम समर्पित किया है; कब तू प्रसादाभिमुख होकर मेरे कष्टोंको हरेगा?'

पुनीतवती बड़े घरकी बेटी थी और वह भी इकलौती। उसके लालन-पालनमें किसी तरहकी कोर-कसर नहीं रहने दी गयी थी। वह जैसे-जैसे बड़ी होती गयी, उसका रूप भी उतना ही निखरता चला गया। लेकिन वह तो रूप-सौन्दर्य, अलंकार-आभूषण—इन सबसे बिल्कुल अनभिज्ञ थी। और तो और, उसके खेल भी शिव-आराधनाके खेल होते थे, घरौंदा बनाने या गुड़ियाका ब्याह रचानेके नहीं। शिवके भक्तोंके प्रति उसकी श्रद्धा और उसका सेवाभाव दोनों बराबर बढ़ते गये।

बाल्यकालको पारकर पुनीतवतीने कैशोर्यकी पहली सीढ़ी-पर कदम रखा। हिंदू मान्यताओंके अनुसार लड़की जब बड़ी और सयानी हो गयी, उसपर घरसे बाहर न जानेका प्रतिबन्ध लगा दिया गया। स्वजन उसके विवाहकी चिन्ता करने लगे। उन दिनों एक अन्य बंदरगाह नागपट्टिणम्में निधिपति नामक एक धनाढ्य व्यापारी रहता था। उसने अपने बेटे परमदत्तका पुनीतवतीसे सम्बन्ध करानेके लिये बड़े-बूढ़ोंको कारैक्काल भेजा। पुनीतवतीके पिता धनदत्तने यह प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया। कारैक्कालमें बड़ी धूमधामसे परमदत्तने पुनीतवतीका पाणिग्रहण किया। धनदत्तने इकलौती बेटीको विदा करनेमें अपनेको असमर्थ पाया और परमदत्तसे अपने ही यहाँ रह जानेका अनुरोध किया। परमदत्त कारैक्कालमें ही रहने लगा। धनदत्तने बेटी और दामादको रहनेके लिये एक महल दे दिया और दामादको अपना अलग कारबार चलानेके लिये पर्याप्त धन-राशि भी दी।

इस प्रकार पुनीतवतीके वैवाहिक जीवनका आरम्भ हुआ। शकुन सभी शुभ प्रतीत होते थे। वह अपने पतिको

अच्छा मानती थी, उसकी सेवा करती थी । अच्छे संस्कारों-वाली स्त्रीकी भाँति हर तरहसे वह उसे सुखी और प्रसन्न रखनेका यत्न करती थी । लेकिन भगवान् शिवके प्रति पुनीतवतीकी अगाध भक्ति, जो बाल्यकालमें ही प्रस्फुटित हो चुकी थी, निरन्तर बढ़ती चली गयी । जब कभी शैव साधु-संत उसके द्वारपर आते, वह उनका श्रद्धा और सम्मान-पूर्वक स्वागत करती, उन्हें दान-दक्षिणा देती । साधुओंकी संगतिमें उसकी धार्मिक वृत्ति और भी प्रखर हो गयी । परमदत्तका धर्म-कर्ममें अधिक विश्वास नहीं था, लेकिन उन्होंने पुनीतवतीकी धार्मिक वृत्तिमें कभी बाधा नहीं डाली।

एक दिन परमदत्त अपनी दुकानपर बैठे हुए थे । कुछ लोग उनसे मिलने आये और उन्होंने परमदत्तको दो बहुत ही स्वादिष्ट आम भेंट किये । परमदत्तने नौकरके हाथ वे आम घर भिजवा दिये । पुनीतवतीने उन्हें सँभालकर रख दिया । थोड़ी देर बाद एक वृद्ध शैव पुनीतवतीके द्वारपर आया । वह बहुत ही थका हुआ और कई दिनोंका भूखा दीख पड़ता था । पुनीतवतीने तुरंत उस साधुको भोजन करानेकी व्यवस्था की । उसने साधुको हाथ-पैर धोनेके लिये जल दिया और पत्तल बिछा दी । लेकिन उस समय रसोईमें केवल भात पका हुआ था, कोई शाक तैयार नहीं था । पुनीतवतीने भात परोस दिया और पतिके भेजे हुए दो आमोंमेंसे एक साधुकी पत्तलपर रख दिया । उस भोजन और गृहलक्ष्मीके स्वागत-सत्कारसे साधु बहुत ही संतुष्ट हुआ । उसने पुनीतवतीको धन्यवाद दिया और आशीर्वचन कहकर चला गया ।

दोपहरमें परमदत्त भोजन करनेके लिये घर आये । आदर्श एवं आज्ञाकारिणी पत्नी पुनीतवतीने उन्हें भोजन करानेके लिये भात और नाना प्रकारके सुस्वादु व्यञ्जन परोसे और बचा हुआ आम भी पत्तलपर रख दिया । आम परमदत्त-को इतना मीठा और अच्छा लगा कि वह तुरंत माँग कर बैठा कि 'दूसरा आम भी लाओ' । पुनीतवती एक क्षण किंकर्तव्यविमूढ़ हुई बैठी रही । पतिकी आज्ञाका पालन करनेके लिये वह उठी और वहाँ गयी, जहाँ आम रखे थे । उसने भगवान् शिवका स्मरण किया और कहा—'प्रभो ! मुझे बचाइये और एक आम यहाँ लाकर रख दीजिये' । इतनी प्रार्थना करनी थी कि उसने देखा सामने एक बहुत अच्छा आम रखा हुआ है । उसने बिना कुछ कहे शान्त मनसे वह आम पतिकी पत्तलपर रख दिया । परमदत्तने आम खाया और चकित-से रह गये । कहने लगे—'यह तो पहले आमसे भी कहीं अधिक स्वादिष्ट है । ऐसा आम तो मैंने इसके पहले न कभी देखा, न खाया । यह तो पिछले आमके साथवाला आम नहीं हो सकता । बताओ, तुमने यह कहाँ पाया ?'

पुनीतवती असमंजसमें पड़ गयी और उसका शरीर थरथराने लगा । एक ओर भक्त होनेके नाते उसका यह कर्तव्य था कि दैवी कृपासे जो चमत्कार हुआ था, उसका भेद किसीको न बताये । दूसरी ओर पातिव्रत्यका यह आग्रह था कि वह पतिकी आज्ञाका पालन करे और जो सूचना उसके पतिने माँगी है, वह उसे दे । अन्तमें उसने यह निश्चय किया कि पातिव्रत्य धर्म निभाना ही उसका पहला कर्तव्य है । अतएव उसने अपने प्रभुसे क्षमा-याचना करनेके बाद पतिको सारी घटना बता दी । परमदत्त यह वृत्तान्त सुनकर ठगे-से रह गये । लेकिन अविश्वास उनके मनमें घर करने लगा और वे कह बैठे—'यदि वास्तवमें भगवान् शिवकी तुमपर ऐसी कृपा है तो वैसा ही एक और आम प्राप्तकर दिखाओ' । अब पुनीतवती क्या करे ? मनको स्थिर किया, कुछ दूर हटकर खड़ी हो गयी और आकाशको सम्बोधित करके बोली—'प्रभो ! वैसा ही एक और फल भेज दो, अन्यथा तुम्हारी यह भक्ता पतिके सामने झूठी हो जायगी ।' उसका यों कहना था कि फिर वैसा ही एक और फल उसके हाथमें आ गया । आम पतिको दिया गया तो वे आश्चर्यचकित रह गये; पर जब वह आम उनके हाथमें आकर पुनः गायब हो गया, तब वे बहुत घबरा गये ।

कुछ देरतक उनके मुँहसे कोई शब्द नहीं निकला । वे समझ गये कि पुनीतवती कोई साधारण स्त्री नहीं है । वह कोई देवी है, जिसने मानवीय चोला धारण कर रखा है । उसे पत्नीके रूपमें अपने साथ रखना ठीक नहीं । अब तो परमदत्त कारैक्काल छोड़कर जानेकी तैयारी करने लगे और पुनीतवतीको अपनी पत्नी नहीं, कोई देवी मानने लगे ।

प्राचीन तमिळनाडुमें कई व्यापारी अपने-अपने जहाज लेकर समुद्रपारके देशोंमें व्यापार करने जाते थे । परमदत्तने भी कुछ व्यापारी जहाज बनवाये और अपना माल लेकर दूर देशोंको गया । वहाँ खासा मुनाफा कमाकर वह स्वदेश लौटा, लेकिन कारैक्काल या नागपट्टिणम् न जाकर वह मदुरैमें उतर गया, जो पाण्ड्यनरेशोंकी राजधानी थी । वह वहीं जाकर बस गया और उसने किसीको यह नहीं बताया कि वह कारैक्कालका है तथा पुनीतवतीसे उसका विवाह हो चुका

है। यही नहीं, उसने मदुरैमें एक कन्यासे विवाह भी कर लिया और इसकी खबर कारैक्काल नहीं पहुँचने दी। तदनन्तर अपनी दूसरी पत्नीसे उसे एक लड़की हुई। परमदत्त हर रोज अपनी पहली पत्नी पुनीतवतीका देवीके रूपमें पूजन किया करता था। उसने अपनी कन्याका नाम श्रद्धावश 'पुनीतवती' ही रखा। उधर पुनीतवती इस सारे इतिहाससे अनभिज्ञ अपनी गृहस्थी चलाये जा रही थी और पातिव्रत धर्मका निर्वाह कर रही थी।

कोई भी बात अधिक समयतक छिपी नहीं रह सकती। पुनीतवतीके सम्बन्धियोंको अन्ततः यह पता चल ही गया कि परमदत्तने मदुरैमें दूसरा विवाह करके नयी गृहस्थी बसा ली है। इस समाचारकी पुष्टि करनेके बाद पुनीतवतीके सम्बन्धी पुनीतवतीको एक सुन्दर पालकीमें बैठाकर सुदूर बसे हुए नगर मदुरै ले गये। मदुरै पहुँचकर उन्होंने परमदत्तको पुनीतवतीके आगमनकी सूचना दी। पहले तो परमदत्त कुछ घबराये, लेकिन फिर स्वस्थ होकर उन्होंने पुनीतवतीका स्वागत किया, अपनी नयी पत्नी और कन्याका परिचय दिया और फिर पुनीतवतीको साष्टाङ्ग प्रणाम किया। परमदत्तकी दूसरी पत्नीने भी पुनीतवतीके पैर छूए। इस रहस्यमय व्यापारसे पुनीतवती और उसके सम्बन्धी अतिशय चकित हुए। परमदत्त बोले—'देवी! आपकी कृपासे मैं यहाँ रह रहा हूँ और मैंने अपनी बच्चीका नाम आपके नामपर ही रखा है'। सम्बन्धियोंने कहा—'आपने अपनी पत्नीके पैर छूए, यह लीला कुछ समझमें नहीं आयी।' परमदत्तने स्पष्ट और दृढ़ स्वरमें उत्तर दिया—'पुनीतवतीजी कोई साधारण स्त्री नहीं हैं। इनके दैवी स्वरूपका ज्ञान होनेपर ही मैंने इन्हें अपनी पत्नी समझना छोड़ दिया है। मैं इन्हें अपनी श्रद्धा और भक्तिका पात्र समझता हूँ और इसी श्रद्धावश मैंने अपनी लड़कीका नाम इनके नामपर रखा है। इसीलिये मैंने इनके श्रीचरणोंमें प्रणाम किया, आप भी वैसा ही करें।'

यह सुनकर सम्बन्धीगण स्तब्ध रह गये। पुनीतवतीकी भी विचित्र दशा हुई। उसने त्रिपुरारि महादेवका स्मरण किया और भाव-विह्वल होकर अन्तर्मनसे प्रार्थनाके निम्नलिखित शब्द कहे—'प्रभो! आप मेरे पतिका आचरण देख ही रहे हैं। मैं अब क्या कर सकती हूँ। इस देहको, इस रूप-सौन्दर्यको मैं पतिके लिये ही बनाये हुए थी। आप मुझे देहहीन, रूप-सौन्दर्यहीन करके मुक्ति दिला दीजिये। मैं प्रेत-छाया बनूँ और कायाके पिंजरेसे मुक्त होकर दिन-रात आपके श्रीचरणोंके अनुरागमें लीन रहूँ।' इस प्रकार वह भक्ति-भावमें डूबी खड़ी रही और कैलासपतिने प्रसादाभिमुख हो उसकी याचना स्वीकार की। पुनीतवतीकी काया बदल गयी। उसकी सुन्दर देहवल्ली, जो आत्माके सौन्दर्यसे और भी प्रदीप्त हो उठी थी, सहसा कुम्हला गयी और प्रेतछायावत् कंकाल बन गयी। वह इतनी कुरूप हो गयी कि देखनेवालोंको भय लगने लगा। इन्द्र आदि देवताओंने उसपर नन्दनवनके पुष्पोंकी वर्षा की और दैवी संगीतधारा गूँज उठी। देव-किंनर आदि स्वर्गके निवासी आह्लादित हो उठे। इधर पुनीतवतीमें यह चामत्कारिक परिवर्तन होता देख सम्बन्धीजन भयभीत हो गये और डरते-डरते प्रणाम करके वहाँसे भाग खड़े हुए।

फिर कारैक्काल अम्मैयारके जीवनका एक नया अध्याय शुरू हुआ। उन्होंने भगवान् शिवकी प्रशस्तिमें काव्य-रचना आरम्भ की और अनुभव किया कि त्रिपुरारि महादेवका वरद हस्त उनपर बना हुआ है। धारणा है कि इस चरम अवस्थामें उन्होंने तमिळमें गीतोंकी रचना की। इनके दो संकलन हैं—'अरपुदा तिरुवन्तादि', जिसमें एक सौ एक पद हैं और दूसरा 'तिरु इरट्टै मणिमालै', जिसमें बीस पद हैं।

पुनीतवतीकी देहका प्रेतछायामें बदल जाना सांसारिक सुखोंकी तिलाञ्जलिका प्रतीक बन गया। वे मोह-माया पूर्णतया भूल गयीं और कैलास पर्वतपर आसीन भगवान् शिवके दर्शनकी अभिलाषा उनके मन-प्राणपर हावी हो गयी। वे उत्तर दिशामें कैलास-यात्राके लिये चल पड़ीं। रास्तेमें जो भी लोग मिलते, उन्हें देखकर डर जाते; लेकिन इससे वे जरा भी विचलित नहीं हुईं। उन्होंने कहा—'विशाल विश्वके आठ कोनोंमें एकत्रित जनताके, जो चिरन्तन सत्यसे अनभिज्ञ हैं, सम्मुख मैं किसी भी रूपमें प्रकट हूँ, इससे कोई भी अन्तर नहीं पड़ता, यदि सबके दाता भगवान् शिव मुझे अपने भक्तोंमें मान लें।'

कारैक्काल अम्मैयार जब कैलास पर्वतकी चढ़ाई कर रही थीं, तब उनकी अन्तरात्मामें एक अनोखी भावना आयी कि उन्हें इस पर्वतपर पैरोंसे नहीं, अपितु सिरके बल चढ़ना चाहिये। कई लेखकोंके मतानुसार उन्होंने केवल इस प्रकारका जीवनक्रम अपनाया, जो सांसारिक व्यवहार और

रीतियोंसे सर्वथा विपरीत है; किंतु अन्य विद्वान् इससे सहमत नहीं । वे इसका शाब्दिक अर्थ लगाते हैं कि विश्वेश्वरके भक्तोंके द्वारा सभी कुछ सम्भव है । वे अपने इष्टदेवके लिये कुछ भी कर सकते हैं । उनके मन, मस्तिष्क और शरीर आराध्यके आधिपत्यमें हैं । वास्तविकता कुछ भी हो, अम्मैयार कैलास पर्वतकी चोटीपर स्थित अपने इष्टदेवके निवासस्थानपर पहुँच गयीं ।

अम्मैयारके इष्टदेव शिवकी अभयदायिनी अर्धाङ्गिनी उमाकी दृष्टि जब इन भक्ताकी प्रेतछायापर पड़ी, तब उन्होंने अपने स्वामी महेश्वरको सम्बोधित कर कहा—'स्वामिन् ! देखो, तुम्हारे प्रति इस आत्माका कितना अलौकिक प्रेम है, जो उसकी कंकाल बनी हुई कायासे अभिव्यक्त हो रहा है ।' महेश्वर बोले—'प्रिये ! जानती हो, यह काया जो प्रतिक्षण हमारी ओर बढ़ती आ रही है वस्तुतः मेरी माँ है । उसका वर्तमान उपासक रूप, जो मैंने उसकी भक्तिसे विभोर होकर प्रदान किया था, केवल मात्र मेरे प्रति की गयी सच्ची लगन और अनन्य-भक्तिका परिणाम है ।' जब अम्मैयार अपने आराध्य शिवके सम्मुख उपस्थित हुईं, तब शिवने उन्हें 'जननी' कहकर सम्बोधित किया । भावनाओंसे अवरुद्धकण्ठ हुई अम्मैयार शिवको 'पिता' कहकर आराध्यके चरणोंसे लिपट गयीं । तदुपरान्त शिवने अपनी भक्तासे उसकी मनोकामना जाननी चाही । अम्मैयारने जो उत्तर दिया, वह कवि सेक्किलारकी आत्म-विस्मारक कवितामें अङ्कित है । अम्मैयारने सर्वप्रथम अपने इष्टदेवके अनन्त, अमिट और सर्वश्रेष्ठ प्रेमकी याचना की और फिर इस प्रकार स्तुति की—

'मुझे जन्म-मृत्युकी यातनासे मुक्ति दें; किंतु यदि आपकी रुचि यही है कि मैं पुनः जन्म लूँ तो यह वरदान दें कि आपकी सुधि सदैव बनी रहे । हे धर्मदेव ! मुझे एक वरदान और प्रदान करें कि जब आप ताण्डव नृत्य करें, तब मैं आपके चरणोंके निकट खड़ी उसे देख सकूँ ।'

इस प्रार्थनासे प्रसन्न शिवने वरदान दिया कि वह तिरुवालंकाडु स्थानपर उनके शाश्वत नृत्यको आनन्दविभोर होकर देखेगी और उनकी स्तुति करेगी । यह आशीर्वाद पाकर अम्मैयार प्रफुल्लित हो उठीं और उनके आनन्दकी सीमा न रही । वे तत्काल कैलाससे तमिलनाड लौट आयीं और उन्होंने सीधे तिरुवालंकाडुकी ओर कूच किया । वहाँ वे सिरके बल प्रविष्ट हुईं । तबसे वे निरन्तर वहाँ स्थित नटराज शिवके शाश्वत ताण्डव नृत्यका अवलोकन करती रहती हैं । उस पवित्र देवस्थानपर पहुँचनेके पश्चात् अम्मैयारने शाश्वत नृत्यको निहार ग्यारह स्तोत्रोंकी दो काव्य-मालाएँ रचीं, जिनमें तिरुवालंकाडुमें हो रहे भगवान् शंकरके विराट् नर्तकरूपका वर्णन है ।

उक्त विवरणसे स्पष्ट है कि अम्मैयारका सांसारिक पति शिक्षा, संस्कृति और आध्यात्मिक ज्ञानमें उतना समुन्नत नहीं था, जितनी उसकी पत्नी थीं । इन दोनोंकी तुलना जीवन-चरित्र-लेखकने अपनी वाक्चातुरीसे दी है । उसने जहाँ पतिकी उपमा यौवनमय बलिष्ठ वृषभसे दी है, वहाँ पत्नीकी उपमा उस कोमल-कान्त-कलेवरा मयूरीसे दी है, जो चाहे तो अपने परोंकी सुन्दरता प्रदर्शित करे या न करे । ऐसी विषमतामें भी अम्मैयारने अपने पतिको सदैव सम्मान प्रदान कर कर्तव्यपरायणा पत्नीकी तरह सेवा की । स्पष्ट है, अम्मैयार एक सुशिक्षिता स्त्री थीं, जो उच्चकोटिके भक्ति-काव्यकी रचना कर सकती थीं । उनकी रचनाएँ तमिळके शैव-साहित्यमें सम्मिलित करनेके योग्य समझी गयीं । संत सम्बन्ध तथा आजतकके अन्य संतोंने उनका सम्मान किया है । आज भी उनकी प्रतिमा शैव मन्दिरोंमें अन्य ६३ नायनार संतोंकी प्रतिमाओंके साथ पायी जाती है ।

उदाहरणके लिये अरुपद तिरुवन्तादिमेंसे कुछ पद्योंके अर्थ नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

१—मेरे इष्टदेव, जो मुण्डमाला धारण किये तथा आगकी लपटें हाथमें लेकर ताण्डव नृत्य करते हैं, यदि मेरा कष्ट निवारण न करें, मुझपर दया न दिखायें और मेरा पथ-प्रदर्शन न करें, तो भी मेरा हृदय उनके प्रति अगाध प्रेम और भक्तिसे विमुख नहीं हो सकता ।

२—कुछ लोगोंके अनुसार भगवान् स्वर्गमें वास करते हैं, तो कुछ लोग उन्हें वैकुण्ठवासी बताते हैं; परंतु मेरे आराध्य, जो ज्ञानेश्वर और विषपानके कारण नीलकण्ठ हैं, मेरे हृदय-मण्डलमें निवास करते हैं ।

३—मेरा ही हृदय पवित्र है, मैंने ही जन्म-मरणके बन्धन तोड़े हैं और मेरी तपस्या ही चरितार्थ और फलीभूत हुई है; क्योंकि मैं अपने स्वामी त्रिलोचनकी चरण-सेवामें

रत हूँ, जो बाघंबर धारण किये हुए हैं और विभूति रमाते हैं ।

४—मेरे महेश्वरकी अनुकम्पासे ही समस्त विश्व शासित है, उनकी दयासे ही प्राणी जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्ति पाता है । मैं उन्हीं महेश्वरकी कृपासे सर्वोच्च वास्तविकता और मूलतत्त्वका अनुभव करती हूँ । अतः संसारकी समस्त दुर्लभ-से-दुर्लभ वस्तुएँ मेरे लिये हस्तामलकवत् हैं ।

५—मेरा ध्यान एक ही ओर केन्द्रित है । मेरा एक ही अटल निश्चय है और मेरे हृदयकी एक ही निधि है—वह यह कि मैं उन स्वामीकी सेविका बनूँ, जिनके ललाटपर द्वितीयाका चन्द्रमा विराजमान है, जिनकी जटाओंसे गङ्गा प्रवाहित है और जिनके एक हाथमें विस्फुलिङ्गयुक्त अग्नि है ।

६—क्या मैं उन्हें 'हर' कहूँ, 'ब्रह्म' कहूँ या इन दोनोंसे परे ? मैं नहीं जानती कि उनका वास्तविक स्वरूप क्या है ।

७—वही जानता है, वही सिखाता है, वही ज्ञानेश्वर है और वही मौलिक सत्ता है, जिसको जानना अभीष्ट है । वही प्रकाश-पुञ्ज अग्नि है, वही पृथ्वी और आकाश है ।

८—जो अज्ञानी प्राणी उनके वास्तविक स्वरूपको नहीं जानते, उनका उपहास करते हैं, वे केवल बाह्य आकारको देखते हैं, जिसपर विभूति लगी है और गलेमें मुण्डमाला है—मानो प्रेतका आकार हो ।

९—केवल पुस्तकीय ज्ञानपर आधारित ज्ञानवाले विद्वान् ही विवाद करते हैं, जिनमें धार्मिक ग्रन्थोंमें निहित मूल सत्यके समझनेकी क्षमता नहीं है । चिरंतन सत्यके खोजी सच्चे भक्तके सम्मुख भगवान् स्वयं ही उस रूपमें प्रकट होते हैं, जिसमें उसका भक्त उसे देखनेकी अभिलाषा रखता है ।

१०—मेरे परमपिता ! मेरी केवल एक ही आकाङ्क्षा और उत्कण्ठा है कि मैं उस क्षेत्रको जान सकूँ, जहाँ तुम महाप्रलयकी निशामें हाथमें अग्नि धारण किये ताण्डव नृत्य करते हो ।

११—विराट् नृत्यमें रत तुम्हारे पद-संचालनसे पृथ्वी और आकाश नष्ट हो जाते हैं, तुम्हारे सिर उठाते ही स्वर्गका चन्द्रमा फट जाता है । जब तुम्हारी सुशोभित भुजाएँ गति करती हैं, तब कामदेव काँप उठता है । विशाल विश्वका रंगमञ्च तुम्हारे नृत्यके भारको उठा नहीं सकता ।

१२—हमने मृत्युपर विजय पायी और नरकसे बचे, हमने शुभाशुभ कर्मोंके बन्धन भी तोड़ डाले—यह सब तभी सम्भव हुआ, जब हमने अपने अस्तित्वको पूर्णतः महेश्वरके पवित्र चरणोंमें रत कर दिया—उन महेश्वरके, जिन्होंने अपने तीसरे नेत्रकी अग्निसे त्रिपुरासुरोंके गढ़ोंको ही भस्मसात् कर दिया ।

मोहनकी उलटी रीति

भरोसौ रीझन ही लखि भारी ।
हमहू कौं विस्वास होत है, मोहन 'पतित-उधारी' ॥
जो ऐसौ सुभाव नहिं होतौ, क्यौं अहीर कुल भायौ ।
तजि कै कौस्तुभ-सौ मनि गल क्यौं गुंजा-हार धरायौ ॥
कीट मुकुट सिर छाँडि पखौआ मोरन कौ क्यौं धार्‌यौ ।
फेंट कसी टेंटिन पै, मेवन कौ क्यौं स्वाद बिसार्‌यौ ॥
ऐसी उलटी रीझि देखि कैं, उपजति है जिय आस ।
जग-निंदित 'हरिचंदहु' कौं अपनाइहिंगे करि दास ॥

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

पढ़ो, समझो और करो

(१)

यह आचारनिष्ठा जगत्‌को पवित्र करती रहेगी

परम श्रद्धेय श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार २२ मार्चको प्रातःकाल अपना पार्थिव कलेवर त्यागकर भगवान्‌की नित्यलीलामें लीन हो गये। वे भगवान्‌में ही जीये, भगवान्‌में ही रहे और अन्तमें भगवान्‌में ही लीन हो गये। उन्होंने अपने जीवन, व्यवहार, कार्य, वाणी, लेखनी—इतना ही नहीं, अपने श्वास-श्वाससे भगवद्भावका प्रचार-प्रसार किया। आस्तिकताकी साकार प्रतिमा उनका जीवन था।

भक्त अखिल विश्व-ब्रह्माण्डके रूपमें अपने प्रभुको ही अभिव्यक्त हुआ अनुभव करता है। अतः सभी भूत-प्राणियोंके प्रति उसका आत्मभाव रहता है और इससे उसमें नित्य अहिंसाकी प्रतिष्ठा रहती है। श्रीभाईजीके जीवनमें भी हम इसका आदर्श रूप प्राप्त करते हैं। उन्होंने जीवनभर अपने कण-कणसे अहिंसा, प्राणीप्रेम एवं पवित्रताका दान किया है।

वे आदर्श गृहस्थ संत थे। अतएव शरीरकी अस्वस्थतामें उपचार करवाते थे; पर इस बातका वे बराबर ध्यान रखते थे कि जो औषध वे ले रहे हैं, उसमें किसी भी रूपमें कोई जान्तव पदार्थ अथवा अन्य कोई अशुद्ध वस्तु न हो। आजकल पशु-पक्षियोंकी हत्या कर उनके रक्त, मांस एवं विभिन्न अङ्गोंके रसोंसे अनेक प्रकारकी औषधोंका निर्माण हुआ है, जो अनेक भीषण रोगोंमें बहुत लाभप्रद भी सिद्ध हुई हैं; परंतु श्रीभाईजी इस प्रकारकी औषधोंसे सदा सर्वथा सावधान रहे। वे प्रयोग की जानेवाली प्रत्येक औषधमें सम्मिलित किये गये पदार्थोंके विषयमें पूरी जानकारी करनेके पश्चात् ही उसका सेवन करते थे। किसी औषधमें यदि तनिक भी कोई जान्तव पदार्थ सम्मिलित पाया जाता था तो वे उसे नहीं लेते थे, फिर चाहे वह कितनी ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो।

लगभग बीस वर्षसे उन्हें मधुमेह (डायबिटीज) की बीमारी थी। इसके लिये वे अपने भोजनपर बराबर नियन्त्रण रखते थे तथा आवश्यक होनेपर कुछ दवा भी ले लिया करते थे। मित्रोंने तथा डाक्टरोंने 'इन्सुलिन' का इन्जेक्शन लेनेके लिये अनेक बार कहा; पर वे जानते थे कि 'इन्सुलिन' पशुओंके किसी अङ्गविशेषके रससे बनता है। अतएव उन्होंने इसका सेवन कभी नहीं किया। अन्तिम बीमारीके समय उनके पेटमें भीषण पीड़ाकारक एक गोला बन गया था, जो डाक्टरोंकी रायमें फोड़ा या कैंसर था। स्थानीय डाक्टरोंके आग्रहपर कानपुर और दिल्लीके बड़े सर्जन बुलाये गये, जिन्होंने २५ और २७ फरवरीको परमपूज्य श्रीभाईजीको देखा। दोनों ही अनुभवी सर्जनोंने राय दी कि तत्काल ऑपरेशन किया जाय, अन्यथा जीवनको खतरा है। दिल्लीके सर्जन महोदयने तो यहाँतक कहा—"घरवाले इनका जीवन महीनों-वर्षोंतक देखना चाहते हैं, पर वर्तमान परिस्थितिमें ये कुछ ही दिनोंके मेहमान हैं। ऑपरेशनसे आशा होती है कि इनका जीवन बच जाय; पर मधुमेहकी स्थितिमें ऑपरेशन खतरेसे खाली नहीं है। हम पूरा प्रयत्न रखेंगे कि इनके सिद्धान्तकी रक्षाके लिये 'इन्सुलिन'के इन्जेक्शन न दिये जायँ।" स्थानीय डाक्टरों तथा कतिपय स्वजनोंने श्रीभाईजीपर दबाव डाला कि वे ऑपरेशनके लिये तैयार हो जायँ; पर श्रीभाईजीने सर्जन महोदयसे पूछा—"ऑपरेशनके बाद यदि मधुमेहके कारण घाव नहीं भरा तो आप क्या करेंगे ?" सर्जन महोदय श्रीभाईजी-जैसे संतके सामने सच्ची बात न छिपा सके। उन्होंने कहा—"उस स्थितिमें हम आपकी जीवन-रक्षाके लिये आपसे छिपाकर 'इन्सुलिन' दे देंगे। उस समय हमारा कर्तव्य किसी भी उपायसे आपके जीवनको बचाना होगा। पेटके ऑपरेशनमें 'इन्सुलिन'के इन्जेक्शनके सिवा मधुमेहके नियन्त्रणके लिये दूसरा कोई साधन हमारे पास नहीं है।" इसपर श्रीभाईजीने कहा—"'इन्सुलिन'का प्रयोग करके अपना जीवन मैं बचाना नहीं चाहता। जीवन तो एक दिन जाना ही है। फिर किसी प्राणीकी हिंसासे बने 'इन्सुलिन'को लेकर इसे बचानेका पाप क्यों स्वीकार किया जाय ?" और उन्होंने ऑपरेशन न करानेका अपना निश्चय सब डाक्टरों और स्वजनोंको सुना दिया। सर्जन महोदय श्रीभाईजीकी इस दृढ़ताको देखकर बड़े चकित रह गये। उन्होंने कहा—"भाईजी ! आपकी महानताका यही हेतु है कि आप सिद्धान्तको जीवनसे श्रेष्ठ मानते हैं। अन्यथा हम जानते हैं कि बड़े-बड़े धार्मिक लोग 'इन्सुलिन'का प्रयोग बिना किसी हिचकके बराबर कर रहे हैं।"

डाक्टर साहबकी बात सुनकर श्रीभाईजीने कहा—"हमारे

परम श्रद्धेय ब्रह्मलीन श्रीसेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी, जो इस गीताप्रेसके मूल संस्थापक थे, आचारनिष्ठा तो और भी कठोर थी। उन्होंने जीवनभर आयुर्वेदिक ओषधियोंको छोड़कर अन्य किसी चिकित्सा-पद्धति (पैथी) की दवाइयोंका सेवन नहीं किया। आयुर्वेदिक ओषधियोंमें भी वे केवल उन्हीं ओषधियोंको लेते थे, जिनमें कोई अशुद्ध वस्तु सम्मिलित नहीं होती। जान्तव पदार्थोंसे बनी ओषधियोंका तो उनके सामने कोई प्रश्न ही नहीं था। लगभग २० वर्ष पूर्व वे सत्सङ्गके लिये गोरखपुर पधारे थे। एक दिन अचानक उनके उदरमें भीषण शूल उत्पन्न हुआ। स्थानीय वैद्यराजोंके निर्देशनमें कई तरहके उपचार हुए; पर शूलमें कमी नहीं हुई, वह बराबर बढ़ता ही गया। सभी स्वजन चिन्तित हो गये। श्रद्धेय श्रीसेठजी ऐलोपैथिक दवा छूतेतक नहीं थे, पर कुछ स्वजन स्थानीय सिविल सर्जन महोदय कैप्टन श्रीराजेन्द्रप्रसादजीको रोगका निदान करनेके लिये बुला लाये। कैप्टन श्रीराजेन्द्रप्रसाद बड़े ही निपुण डाक्टर थे। उन्होंने काफी देरतक देखा। शूलकी बढ़ती हुई भीषणतासे वे चिन्तित हो गये। उन्होंने गम्भीरताके साथ स्वजनोंको समझाया कि 'इन्हें ऐलोपैथिक दवा-इन्जेक्शन देने चाहिये; अन्यथा जीवन खतरेमें है'। स्वजनोंने श्रीसेठजीकी आचार-निष्ठा बताते हुए ऐलोपैथिक दवा करनेमें सर्वथा लाचारी व्यक्त की, पर सिविल सर्जन महोदय स्थितिकी गम्भीरतासे पूर्ण परिचित थे। वे नहीं चाहते थे कि आचार-निष्ठाके नामपर इतने बड़े संतका जीवन खतरेमें रहे। वे श्रद्धेय श्रीसेठजीके पास पहुँचे और गम्भीर स्वरमें बोले—'महाराज! आप बड़े ही बुद्धिमान् हैं। हम आपको विश्वास दिलाते हैं कि हम कोई भी अशुद्ध चीज आपको नहीं देंगे। आप हमारी ऐलोपैथिक दवा ले लीजिये। पीड़ा बड़ी तीव्र है और बराबर बढ़ रही है। उचित दवा न होनेसे कुछ भी हो सकता है।' श्रद्धेय श्रीसेठजीने डाक्टर महोदयकी हितभरी सलाह सुनी और वे सहजभावसे डाक्टर साहबसे बोले—'ऐलोपैथिक दवा न लेनेसे मृत्युसे बढ़कर और तो कुछ नहीं होगा? वहाँतक हम निश्चय किये बैठे हैं। इससे अधिक कुछ और हो तो डाक्टर साहब! कहिये।' डाक्टर साहब इस दृढ़ताको देखकर चकित रह गये। भगवान्‌ने व्यवस्था की। दर्द एक-दो दिनमें ठीक हो गया।"

अहिंसाका उपदेश तो सभी करते हैं, पर समयपर उसका पालन विरला ही कर पाता है। परम श्रद्धेय श्रीसेठजी एवं श्रीभाईजीकी यह आचारनिष्ठा जगत्‌को पवित्र करती रहेगी।

—कृष्णचन्द्र अग्रवाल

(२)

समयपरकी सूझ

मैं जूनागढ़के अध्यापन-मन्दिर (Training College) में प्रशिक्षण प्राप्त करनेके लिये गया था। उन दिनों वहाँके चौकीदारने एक सुन्दर प्रसङ्ग सुनाया। अध्यापन-मन्दिरमें लगभग १५०–१६० प्राथमिक शिक्षालयोंके शिक्षक गाँव-गाँवसे प्रशिक्षण ग्रहण करने आते हैं।

उन प्रशिक्षण ग्रहण करनेवाले अध्यापकोंका वेतन वहींसे मिलता था। पहली अथवा दूसरी तारीखको लगभग ४-५ बजे क्लर्क सरकारी खजानेमेंसे वेतन लेकर आ जाता और सायंकालकी प्रार्थनाके समय सभी शिक्षकोंको वह चुका दिया जाता। कदाचित् देर-सबेर हो जाती तो दूसरे दिन वेतन चुकाया जाता।

इसी तरह एक बार वेतनकी रकम तो आ गयी, परंतु संयोगवश वेतन न चुक सका और वह रकम आचार्य श्री (प्रिंसिपल) के पास रखी गयी।

रातके समय चार-पाँच घरभेदू चोर-डाकू रुपयोंको झटकनेकी नीयतसे इकट्ठे होकर इनकी मंजिलमें चढ़ गये। ऊपर आनेका मार्ग तो खुला ही था।

मानस-शास्त्री आचार्यने तुरंत निर्णय लिया। उन्होंने विचार किया कि यदि ये डाकू इस रकमको ले गये तो सभी शिक्षक तथा भिन्न-भिन्न गाँवोंमें रहनेवाले इनके कुटुम्बी इस महीनेमें बड़ी कठिनाईमें पड़ जायँगे। परंतु अब क्या हो? तुरंत ही अनुभवी आचार्य वेतनके पैसोंवाली थैलीको छोड़कर घरमें पड़ी दूसरी थैलीको लेकर नीचेकी तरफ दौड़े और हल्ला मचाकर चौकीदार एवं शिक्षार्थियोंको पुकारने लगे। इधर उन चोर-डाकुओंने समझा कि साहब पैसोंकी थैलीको ही लेकर भागे हैं। उन्होंने तुरंत ही पीछे-पीछे जाकर आचार्यके सिरपर लाठी जड़ दी। थैली उनके हाथसे गिर पड़ी। डाकुओंको यही चाहिये था। बस, वे थैली लेकर भाग खड़े हुए। सामने चौकीदार मिला; परंतु वह उन्हें रोकनेकी चेष्टा करता, इसके पूर्व ही उन्होंने उसे भी एक लाठी जड़ दी। चोर भाग गये, शिक्षार्थी लोग इकट्ठे हो गये। कुछ लोग चोरोंके पीछे भागे। थोड़े-से लोग आचार्यश्री तथा चौकीदार-

की सेवामें लग गये। सभी शिक्षार्थी शिक्षकोंको लगा कि इस महीनेका वेतन गया। अब तो चोर पकड़े जायँ तो भले ही कुछ बात बने।

परंतु सबको अचरजमें डालते हुए आचार्यश्रीने अपनी युक्ति उनके सामने प्रकट की और शिक्षकोंके मुँहपर हँसी आ गयी। शिक्षकोंके इस आनन्दको देखकर आचार्यश्री घड़ी भरके लिये अपना दुःख भूल गये। 'अखण्ड आनन्द'

—व्रजलाल र० दावड़ा

(३)

पढ़ा-लिखा कौन ?

एक बार मैं हडालासे बोटाद रेलगाड़ीमें जा रहा था। भीड़ बहुत थी। मुझको बड़ी मुश्किलसे जगह मिली। मेरी बगलमें एक माताजी बैठी थीं। उनके चेहरेपर दिखायी देनेवाली झुर्रियाँ उनकी आयुको बता रही थीं। उनके साथ लगभग १२ वर्षका एक लड़का था।

धंधुकासे भीड़ बढ़ने लगी। हमारे डिब्बेमें चार-पाँच गड़ेरियोंकी स्त्रियाँ धक्का-मुक्कीके बीच किसी तरह चढ़ीं। उनमेंसे दो स्त्रियोंकी गोदमें छोटे बच्चे थे। जगह कहीं भी थी नहीं। हमारे सामनेकी सीटपर दो शिक्षित महिलाएँ बैठी थीं। उन गड़ेरिनोंके बच्चे रो रहे थे, उन्हें चुप रखनेके लिये वे स्त्रियाँ उन्हें हथेलियोंमें लेकर इधर-उधर झुला रही थीं। उनकी इस क्रियासे वे शिक्षित महिलाएँ उबल पड़ीं और एकने उन गड़ेरिनोंसे कहा 'सीधे खड़ी रहना हो तो खड़ी रहो, नहीं तो दूर हट जाओ। तुमलोगोंमें समझ बिल्कुल नहीं है; दूसरोंको तुम कितना हैरान करती हो, इसका तुमको पता है ?' उनमेंसे एक स्त्रीने कहा 'बड़ी बहिन ! बच्चे रोयें तो उनको चुप कराना चाहिये न ? हम आपको कुछ कहती थोड़े ही हैं, आप आरामसे बैठी रहें।'

कोई कुछ बोले, उसके पहले ही मेरी बगलमें बैठी हुई माँजी उठकर खड़ी हो गयीं। उनके साथ ही वह लड़का भी खड़ा हो गया और वे गड़ेरियोंकी स्त्रियाँ जैसे उनकी अपनी लड़कियाँ हों, इस प्रकार वे माँजी प्रेमभरे स्वरमें उनसे बोलीं—'तुम इन छोटे बच्चोंको कहाँतक झुलाओगी ? यहाँ बैठ जाओ।' उन औरतोंने बैठनेमें बहुत आनाकानी की; परंतु माँजीने उनको बलपूर्वक अपनी जगहपर बैठा दिया और हम सब लोग आँखें फाड़कर उनको देखते रहे।

मैंने माँजीसे कहा—'माँजी ! आप बूढ़ी हैं; किसीका धक्का लगेगा तो गिर पड़ोगी। आप मेरी जगहपर बैठ जाइये।' उत्तर मिला, 'ना रे भाई, मुझे बैठना नहीं है; मुझे तो अभी-अभी उतर जाना है। यह तो पंछियोंका मेला है।' मैंने माँजीको बार-बार समझाकर बड़ी कठिनतासे अपनी जगहपर बैठाया।

भीमनाथ स्टेशनपर माँजीको उतरना था। स्टेशन आनेपर मैंने माँजीको बाँह पकड़कर बड़ी मुश्किलसे निकाला, सही-सलामत गाड़ीसे नीचे उतारा और उनका सब सामान भी उतार दिया। माँजीको मैं कुछ दूरतक पहुँचाने भी गया। माँजी बहुत प्रसन्न हुईं और बोलीं, 'बेटा ! तुमने हमारे लिये बहुत कष्ट सहा, भगवान् तुमको दीर्घजीवी एवं स्वस्थ बनाये रखें।' 'अखण्ड आनन्द'

—जयसिंह धरजिया

(४)

जगमगाती हुई ज्योति

रात्रिके ९ बजेके आसपास वायुमण्डल शान्त हो गया; क्योंकि पावस ऋतुकी पहली वर्षा अभी-अभी होके चुकी थी। अपने नित्य नियमके अनुसार मैं एक हलवाईकी दूकानपर बैठा-बैठा गप हाँक रहा था। देहातकी इस दूकानके पास दूसरी कोई दूकान नहीं थी। उसकी बगलमें अतिथि-अभ्यागतोंके लिये पान्थशाला है। गाँवोंमें घूमनेवाली जातियोंके डेरे उसी क्षेत्रमें दिखायी पड़ते थे। उनके टिमटिमाते हुए दीपक जमीनपर फैली हुई एक हारमालाकी तरह दीख पड़ते हैं। इतनेमें उस दूकानपर एक बुढ़िया आकर खड़ी हो गयी। वेष-भूषासे वह गड़ेरियेकी स्त्री प्रतीत होती थी। वह स्त्री लालटेनकी रोशनीके मंद प्रकाशमें अत्यन्त निकट आकर धीरेसे बोली—'ओ सेठ, आधासेर गाँठिया (एक प्रकारकी मिठाई) मुझे दो, मैं पैसा फिर दूँगी, आज पानी बरस रहा था, फलतः मुझे काम नहीं मिला। मैं तो किसी तरह भूखे पेट रात निकाल दूँगी; लेकिन लड़का भूखा है, उसे रात निकालनी कठिन हो जायगी।' हलवाईने उधार देनेसे साफ इनकार कर दिया। बुढ़िया म्लान-वदन लौट पड़ी। मुझे केवल ये चार अक्षर वायुमण्डलमें उसके उद्गार रूपमें सुनायी दिये—'हे प्रभु ! उस हलवाईने मुझसे कहा कि ऐसे तो बहुत लोग आया करते हैं। यदि उनको उधार दिया करूँ तो एक दिन अपने स्त्री-बच्चोंको बेंचना पड़ेगा। ऐसी भिखारिनोंका क्या भरोसा ?

बुढ़िया कुछ दूर गयी होगी, मैंने उसको आवाज देकर

बुलाया और ढाई सौ ग्राम गाँठियाका एक रुपया मैंने अपनी ओरसे चुका देनेकी बात कही; परंतु बुढ़ियाने स्पष्ट इनकार कर दिया और कहा, 'भैया ! हम कोई मँगते-भिखारी नहीं हैं, व्यापारी हैं। इस प्रकार हरामका नहीं खाते। यह लड़का पानी पीकर रात गुजार देगा और हमलोग समझेंगे कि मारवाड़के मरुस्थलमें हैं।' इस प्रकार कहकर वह बुढ़िया वापिस चल पड़ी; अन्तमें मैंने उसका एक रुपया अपने जिम्मे लेकर उसको एक रुपयेका गाँठिया उधार दिला दिया। 'रुपया कल मिल जायगा, भगवान् तुमको करोड़ों वर्ष जीवित रखे' यह कहकर बुढ़िया चली गयी।

तीन-चार दिन बाद रातको नित्यक्रमके अनुसार मैं उस हलवाईकी दूकानपर आया और चार दिन पहलेकी बात याद करके वह मुझसे कहने लगा—'साहब ! वह बुढ़िया गयी सो चली ही गयी, अभी तक आयी नहीं। आप भावनाके चक्करमें आ गये। यह जमाना दूसरा है। भाई, दया करनेवालेको उसकी दया ही खा जाती है, समझे।'

मैं इसका उत्तर सोच ही रहा था, इतनेमें वह बुढ़िया आकर खड़ी हो गयी और उसने अपने मैली-कुचैली ओढ़नीके छोरपर लगायी हुई गाँठको खोलकर चार चवन्नियाँ निकालीं और बोली—'ले, भाई ! यह रुपया। तीन दिनसे कुछ भी काम नहीं मिला था; इस कारण देरी हुई, माफ करना।'

मैं कुछ बोलूँ, इसके पहले ही वह हलवाई कुछ हँसा और बोला—'साहब ! आप आदमीको ठीक परख लेते हैं।' और वह मानवताकी जगमगाती ज्योति अपने ठिकानेपर पहुँची, उसके साथ ही मैंने भी अपने घरकी राह पकड़ी। 'अखण्ड आनन्द'

—नगीन दवे

(५)

धन्य माता ! धन्य खालसा !!

कुछ दिनों पहले एक स्नेही अपने मेहमानको लेकर मिलने आये। सामान्य बातचीतके बाद उन्होंने बताया कि वे भाई कराँची रहते थे। वे देशका विभाजन होते समय पाकिस्तान छोड़कर और लोगोंके साथ बड़ी कठिनतासे भारत आये। उन्होंने अपने सामने घटी हुई एक घटनाका इस प्रकार वर्णन किया।

नवलखींके लिये स्टीमर शामको ४ बजे खुलनेवाला था। बंदरतक पहुँचानेवाले वाहनोंको प्राप्त करनेमें कठिनाई थी। वाहन थोड़े थे और मुसाफिरोंकी जबरदस्त भीड़ थी। सुबहसे ही लोग बंदरपर पहुँचनेकी कोशिशमें थे। ज्यों-त्यों करके आदमी पहुँचे; परंतु अकस्मात् यह घोषणा हुई कि स्टीमर डेढ़ घंटे देरसे रवाना होगा। सामानमें छोटी-छोटी गठरी और थैलियोंके सिवा किसीके पास कुछ न था। हमारे समीप पति-पत्नी और दो बालकोंका एक कुटुम्ब बैठा था। मुँहपरका पसीना पोंछते हुए स्त्रीने अपनी बारह वर्षकी पुत्रीसे कहा, 'अच्छा तो लाओ, अब बच्चेको स्तनपान करा दूँ।' उसने कहा—'बच्चा मेरे पास नहीं है।' 'हैं' आँखें फाड़कर स्त्रीने पुत्री और पतिकी ओर देखा और किसीके हाथोंमें बच्चेको न देखकर वह काँप उठी। 'तुम कोई बच्चेको नहीं लाये ! जो भी वस्तु हाथ लगी, मैं तो उसे बटोरनेमें लग गयी और तुम यों ही हाथ-पैर हिलाते हुए बच्चेको छोड़कर चले आये ? जाओ, जल्दी जाओ, बाबूको ले आओ।'

घड़ीभर पहले जो हारी-थकी और विनम्र थी, उसका रूप ही बदल गया। लाल-लाल उड़ा हुआ चेहरा, शरीरमें कँपकँपी और अग्नि बरसानेवाली आँखें। पत्नीके रौद्र रूपका ताप पति न सह सका, नम्र होकर बोला, 'मैं तो समझा कि तुम लेती आओगी। वापिस जाना हो तो कैसे, जानेकी स्थिति ही नहीं रही। स्टीमरके छूटनेमें आधा-पौन घंटा है। इतने समयमें······।'

'लंबी-चौड़ी बहसके लिये समय नहीं है; तुम जाते हो कि मैं जाऊँ ?' पति आँख भी ऊँची नहीं कर सका। कोई कुछ समझे, उसके पहले तो वह स्त्री कूदकर स्टीमरपरसे दरवाजेपर आयी। 'कोई अघटित घटना हो गयी' ऐसी बात दो-एक आदमियोंने समझी और उन्होंने स्त्रीको रोकनेका प्रयत्न किया; परंतु वह स्त्री रुकी नहीं, भाग खड़ी हुई।

बात ऐसी हुई थी कि शरणार्थी-शिविरसे निकलकर स्टीमरपर जानेके पहले बदलनेके लिये जो कुछ भी कपड़े मिल सकते थे, उन्हें साथ लेकर यह कुटुम्ब टैक्सीमें चला आया था। वह स्त्री अपने आठ महीनेके बच्चेको सुलाकर, जल्दी-जल्दी जो कुछ वह ले सकती थी, लेकर थैलियाँ तैयार करनेमें लग गयी तथा दो बालकोंको साथ लेकर उसका पति जल्दीसे नीचे उतर आया और स्त्री भी चार थैलियाँ लेकर बड़े झपाटेसे चली आयी और सब लोग बंदरपर एकत्रित हो गये। उतावली तथा सिरपर झूलते हुए भयके कारण, बच्चा किसी-न-किसीके पास होगा, यह समझकर किसीने बच्चेका ख्याल नहीं किया और वह घरमें ही सोया

रह गया । हिंदुओंको जितना भय था, उससे ज्यादा जोखिम सिक्खों—खालसाओंको थी । ऐसे एक खालसाकी टैक्सीमें बैठकर यह कुटुम्ब आया था । स्त्रीने उस खालसाको देखा और घबरायी हुई उसके पास पहुँची । 'मेरा छोटा बच्चा पीछे छूट गया है; उसको लेने जाना है, चलते हो ? एकाध क्षणमें ही उस खालसाने छातीपर ढुलककर पड़ा हुआ अपना सिर उठाया । उसकी आँखोंमें चमक आयी और शरीरमें इस प्रकारकी स्फूर्ति प्रकट हो गयी, जैसे उसने उस स्त्रीके साथ चलनेका निर्णय कर लिया हो ।

साठ मीलकी गतिसे वह टैक्सी उस बस्तीवाले भागमें आगे बढ़ी । बीचमें आततायियोंकी कई टोलियाँ भी दीख पड़ीं । सिख होनेके कारण पगड़ी और दाढ़ी धारण किये हुए उस ड्राइवरके साथ वह हिंदू नारी जा रही थी । उसको घेरकर तथा आगे हाथ बढ़ाकर रोकनेकी चेष्टा भी की गयी; परंतु जीवनको हथेलीपर रखकर मृत्युके साथ युद्ध करनेके लिये रणभूमिमें बढ़ते हुए तथा जीवनको महँगी-से-महँगी कीमतपर बेचनेका निर्णय किये हुए खालसा सामने आती हुई भीड़को चीरता हुआ बगलसे टैक्सीको निकालता हुआ चला गया ।

टैक्सी दरवाजेपर आ गयी । बौखलायी हुई माताको दुमंजिलेकी दूसरी सीढ़ीपर पैर रखते ही ऊपरसे बालककी चीख सुनायी दी । बच्चा सुरक्षित है, यह विश्वास होते ही उस स्त्रीने दो-दो सीढ़ियोंको एक साथ लाँघकर उसको उठा लिया, चूमा और छातीसे लगाकर लौट पड़ी ।

इधर बंदरसे उस स्त्रीकी टैक्सी जैसे ही चली, सब लोग प्रकाशके वेगसे स्टीमरपर एकत्रित हो गये । सबके मुँहसे "राम-राम"की ध्वनि निकल पड़ी । पहले तो वह स्त्री जिस प्रकार बच्चेको इतनी दूर छोड़कर चली आयी थी, उसे देखते हुए सम्भव नहीं लगा कि बालक जीता-जागता मिल जायगा । लोग सोच रहे थे—कोई उसे उठा ले गया होगा अथवा थानेमें रख आया होगा अथवा किसी जालिमके हाथसे वह मारा गया होगा । जो भी हो, बच्चा उसे अब नहीं मिलेगा । उस स्त्रीका यह पागलपन है, जो उस बच्चेको लेने गयी है । उसका लौट आना सम्भव नहीं । कोई उसे काट डालेगा अथवा पकड़ लेगा । वह जीती-जागती लौट नहीं सकेगी । अनजान सिखके साथ वह गयी है । वह खालसा ही उसको उड़ा न ले जाय अथवा किसीको सौंप न दे, इसका क्या भरोसा ?" इस प्रकार जितने आदमी' उतने ही तर्क किये जाने लगे ।

समय बीतता गया । स्टीमरने जल्दी-जल्दी दो सीटियाँ दीं और लंगर उठानेकी तैयारी करने लगा । इतनेमें तो वह टैक्सी स्टीमरके किनारे आ लगी । लंबे व्यवधानके बाद स्तनपानसे तृप्त होकर बालक माँकी गोदमें सो गया था । बच्चेको गोदमें लिये वह स्त्री टैक्सीसे उतरी । वह सिख भी उतरा । जिस बाँहसे उसने सोये हुए बच्चेको थाम रखा था, उसपर धारण की हुई दो सोनेकी पहुँचियाँ उस स्त्रीने अपने दूसरे हाथसे निकाल लीं । छलछलाती हुई आँखों एवं गद्गद कण्ठसे पहुँचियोंको सिखके सामने रखकर वह बोली—"भाई ! तुमने मेरा बच्चा मुझको दिया है, जीते-जी मैं तुम्हारा उपकार नहीं भूल सकती । पैसा मेरे पास नहीं है, ये दो पहुँचियाँ देती हूँ, एक जानेकी तथा दूसरी लौटनेकी।"

"नहीं चाहिये, बहिन ! मुझे कुछ नहीं चाहिये । तुम्हें अपना लाल मिल गया, यही मेरा भाड़ा है । मुझको भी मेरे जीवनका डर था; परंतु अब काटा जाऊँ, तो भी कोई चिन्ता नहीं है । आजकी बातसे मुझे संतोष है । तुमने मुझे भाई बनाया है और मैंने तुमको बहन बनाया है । मुझे बहुत खुशी है । ले, बहिन ! यह भाईका कपड़ा ।

स्त्रीको उस खालसाकी टूटी-फूटी गुजराती समझमें आये और वह उसे रोके, इसके पहले खालसा एक दस रुपयेका नोट उसके उस हाथमें, जिससे वह बच्चेको थामे हुई थी, रखकर चलता बना । उसकी आँखोंसे आँसू टपक रहे थे, परंतु वे आँसू आत्मसंतोषके थे और उसके पैर मजबूत पड़ रहे थे । उसके एक-एक पगमें दुर्लभ मानवता टपक रही थी । उधर तीन पार्टियोंका कामचलाऊ पुल पार करके वह स्त्री अपने पति एवं बच्चोंके पास पहुँची । उसकी आँखोंमें भी आँसू थे, पर वे वीर-रसके अनन्तर प्रकट होनेवाले शान्त रस थे । जहाँ-तहाँ 'वाह प्रभु', 'धन्य माताकी हिम्मत' और 'धन्य खालसाकी मानवता'—इन्हीं शब्दोंका स्वर वायुमण्डलमें गूँज रहा था ।

एक तरफ गतिमान् स्टीमरमें सर्वस्व खोकर भी अपने सर्वस्वको लौटा लानेके संतोषसे छलकते हुए हृदय एवं वाणीको लिये हुए माता जा रही थी, उसकी विरुद्ध दिशामें अपनी एकमात्र मोटर और जीवन दोनोंको जोखिममें डालकर प्रकट की गयी मानवतासे विभोर मानव जा रहा था ।

धन्य माता ! धन्य मानवता ! "अखण्ड आनन्द"

—भोगीलाल वैद्य

श्रीहरिः

'कल्याण' के कृपालु पाठकोंसे विनम्र क्षमा-प्रार्थना

इस वर्ष कुछ विशेष परिस्थितियों और अपरिहार्य कारणोंसे जनवरी ७१ का विशेषाङ्क पर्याप्त विलम्बसे ३१ मार्चको प्रकाशित हुआ था। ग्राहक महानुभावोंको फरवरीका साधारण अङ्क यद्यपि विशेषाङ्कके साथ ही भेजा गया था, फिर भी दोनों अङ्कोंके ग्राहकोंकी सेवामें पहुँचते-पहुँचते अत्यधिक विलम्ब हो गया। इससे 'कल्याण' के प्रेमी ग्राहकों तथा पाठकोंको जो कष्ट हुआ, बार-बार पत्र लिखने पड़े—इसका हमें खेद है। लगभग पौने दो लाख ग्राहकोंको रजिस्ट्री तथा वी० पी० भेजनेमें तथा फिर वी० पी० के रुपये डाकघरसे मिलनेपर यथास्थान चढ़ाने और दूसरी व्यवस्था करनेमें भी कुछ अधिक समय लग जाना स्वाभाविक है। परिणामतः आगेके अङ्क भेजनेमें भी विलम्ब होता गया।

परिस्थितिवश मार्च तथा अप्रैलके अङ्क जूनमें भेजे जा सके। अब मईका अङ्क जुलाईमें प्रकाशित होकर भेजा जा रहा है, जबकि इस समयतक जुलाईका अङ्क भेजा जाना चाहिये था। आशा है, इस अपरिहार्य विलम्ब-के लिये, जिसे हम चेष्टा करके भी दूर नहीं कर पाये, 'कल्याण' के प्रेमी पाठक हमें कृपापूर्वक क्षमा करेंगे।

आगामी मासके अङ्कोंके प्रकाशनमें भी विलम्ब हो सकता है, अतः इसके लिये भी कृपालु पाठक अधीर न हों। ऐसी प्रार्थना है।

विनीत-व्यवस्थापक 'कल्याण' गोरखपुर

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ

श्रीमद्भगवद्गीता और रामचरितमानस भारतीय वाङ्मयके ऐसे दिव्य रत्न हैं, जिनके अध्ययनसे तथा प्रतिपाद्य सिद्धान्तोंके मननसे अन्तरमें अचिन्त्य-अलौकिक ज्योति प्रस्फुटित हो उठती है। एक ओर व्यक्तिका व्यक्तिगत जीवन समुन्नत होता है तो दूसरी ओर समाजका सम्पूर्ण वातावरण श्रेष्ठ गुणोंसे सुवासित होता है। आजके तमसाच्छन्न समाजमें तो ऐसे दिव्यग्रन्थोंके अधिकाधिक पाठ और स्वाध्याय-की आवश्यकता है, जिससे इनके आदर्शोंका अधिकाधिक प्रचार हो तथा उनकी जन-मानसमें प्रतिष्ठा हो। इसी उद्देश्यसे 'गीता-रामायण-प्रचार-संघ'की स्थापना हुई। इसके सदस्योंको नियमित रूपसे गीता और मानसका पाठ-स्वाध्याय करना होता है। गतवर्ष सदस्योंकी संख्या ५५,००० से अधिक थी। इस संस्थाके द्वारा श्रीगीताके ६ प्रकारके और श्रीरामायणके ३ प्रकारके एवं उपासना-विभागमें नित्य इष्टदेवके नामका जप, ध्यान और मूर्तिमें या मानसिक पूजा करनेवाले सदस्य बनाकर श्रीगीता और श्रीरामायणके अध्ययन एवं उपासनाके लिये प्रेरणा की जाती है। विशेष जानकारीके लिये पत्र-व्यवहार करना चाहिये। पता इस प्रकार है—

मन्त्री—श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ, गीताभवन, पत्रालय—स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश होकर) जनपद—पौड़ी गढ़वाल (उ० प्र०)

कृपालु ग्राहकोंसे दो-दो नये ग्राहक और बनानेकी प्रार्थना

कृपालु ग्राहकोंसे यह बात छिपी नहीं है कि उनका 'कल्याण' विशुद्ध भगवत्सेवाके भावसे निकाला जाता है, उसके संचालकोंके मनमें आर्थिक लाभकी दृष्टि तो न कभी रही है न है। लाभ तो दूर रहा, उल्टे उसके प्रकाशनमें प्रायः घाटा ही रहता है। उसके विशेषाङ्कोंमें इतनी अधिक बहुमूल्य सामग्री एवं चित्र आदि रहते हैं तथा कागज आदिके दाम एवं कर्मचारियोंका वेतन आदि इतने बढ़ गये हैं कि जितने मूल्यपर वह ग्राहकोंको दिया जाता है, उससे कहीं अधिक व्यय उसपर हो जाता है।

इसके अतिरिक्त 'कल्याण'के द्वारा आध्यात्मिक जगत्की जो अनुपम सेवा हो रही है, वह सबपर प्रकट है। ऐसी दशामें उसका जितना अधिक प्रचार-प्रसार होगा, उतना ही जगत्का मङ्गल होगा। विश्वमें नास्तिकता एवं भौतिकवादकी शक्ति इतनी प्रबल होती जा रही है कि उसपर यदि रोक नहीं लगायी गयी तो विश्वका संहार निश्चित है। इसलिये आत्मरक्षाके लिये भी आस्तिकों एवं ईश्वरवादियोंका यह कर्त्तव्य है कि वे आस्तिकता एवं अध्यात्मवादके प्रचारके लिये किये जानेवाले प्रयत्नोंका समर्थन करें एवं उन्हें बल दें।

इस वर्षके विशेषाङ्क 'श्रीअग्निपुराण-गर्गसंहिता-नरसिंहपुराण-अङ्क'की विद्वानोंने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उसमें भारतीय संस्कृतिकी अतुलनीय महिमाको प्रकट करनेवाली तथा भक्तिभावका हृदयमें संचार करनेवाली इतनी उपयोगी सामग्री तथा आकर्षक चित्र दिये गये हैं कि उसको पढ़ना आरम्भ करनेपर जल्दी छोड़नेका मन नहीं होता। आशा है, इन सभी दृष्टियोंसे प्रत्येक ग्राहक महानुभाव इसके दो-दो नये ग्राहक और बनानेमें हमारी उत्साहपूर्वक सहायता करेंगे। गत वर्षका विशेषाङ्क, जिसकी १,६५,००० प्रतियाँ छापी गयी थीं, हाथोंहाथ बिक गया था। इसीसे प्रोत्साहित होकर इस वर्ष यह अङ्क उससे भी अधिक संख्यामें छापा गया। परंतु इस वर्ष विशेषाङ्क अब भी बच गये हैं।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीगीता और रामायणकी परीक्षाएँ

हिंदू वाङ्मयके दिव्यतम रत्न हैं—श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस, जिनमें श्रेय-प्रेयका पूर्ण विवेचन है। ये वास्तवमें सार्वभौम तथा सर्वकल्याणकारी पवित्र ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थोंका आश्रय लेनेसे लोक, परलोक और परमार्थ—सभी सुधरते हैं। भारत ही नहीं, भारतके बाहर भी इन ग्रन्थोंकी गौरवपूर्ण तथा मङ्गलमयी श्रेष्ठताका समादर है। इन ग्रन्थोंका दिव्यालोक जन-जनतक पहुँच सके तथा उनकी जागतिक या आध्यात्मिक उन्नतिके पथको आलोकित किया जा सके, एतदर्थ गीता और रामायण-परीक्षाकी व्यवस्था की गयी थी। परीक्षामें उत्तीर्ण छात्र पुरस्कृत भी होते हैं। सैकड़ों स्थानोंपर परीक्षा-केन्द्र हैं। विशेष विवरणकी जानकारी नियमावलीसे हो सकती है। परीक्षा-सम्बन्धी सभी बातोंकी जानकारीके लिये नीचे लिखे पतेपर पत्रव्यवहार करें।

व्यवस्थापक—गीता-रामायण-परीक्षा-समिति, गीताभवन, पत्रालय—स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश होकर) जनपद—पौड़ी गढ़वाल (उ० प्र०)